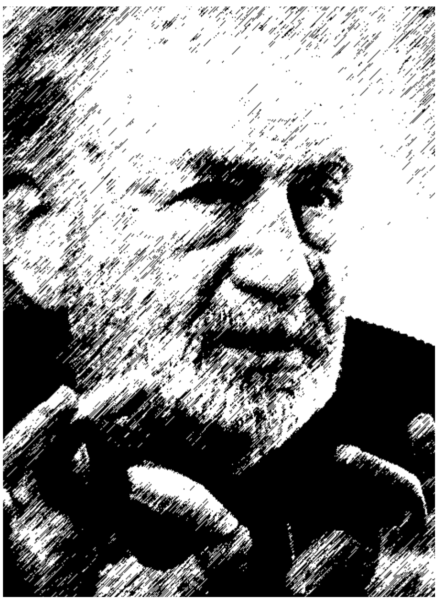
जनपदीयता : आत्मगत और वस्तुगत

बरनार्ड एस. कोह्न
अनुवाद : नरेश गोस्वामी



यह लेख थोड़ी सी सवालगोई और क़यासगोई का मिला-जुला रूप है। इसका मक़सद चंद ऐसे पद्धतिमूलक और तात्त्विक मसलों का जायज़ा लेना है जिन्हें आधुनिक भारतीय समाज के आनुभविक व सैद्धांतिक अर्थ-बोधन में समाज-वैज्ञानिक समान रूप से इस्तेमाल करते रहे हैं। समाज-वैज्ञानिकों से मेरा आशय इतिहासकारों से भी है और आधुनिक भारतीय समाज का बोध महज़ समकालीन भारत तक सीमित न होकर अट्ठारहवीं सदी के भारत तक जाता है। इस लेख का बुनियादी तर्क सरल और सम्भवत: उसी तरह स्वयंसिद्ध है जिस तरह दक्षिण एशिया की क्षेत्रीय विभिन्नताओं, उसकी भौगोलिक और ऐतिहासिक इयत्ता को स्वीकार किया जाता है या भारतीय सभ्यता को एक सांस्कृतिक अन्विति माना जाता है। अनेकता में एकता जैसा पिष्टपेषित पद भी क्षेत्रों की संरचनात्मक और सांस्कृतिक भिन्नताओं के दोहराव; भाषाई, साहित्यिक, ऐतिहासिक व कर्मकाण्डीय अंतरों;

राजनीतिक व प्रशासनिक शैलियों और तौर-तरीक़ों की विशिष्टताओं व औद्योगीकरण व आधुनिकीकरण की क्षेत्रगत विविधताओं से कम वास्तविक नहीं है। यह प्रश्न क्षेत्रीय यथार्थ बनाम समग्रता-बोधक पदों, साभ्यतिक यथार्थ या उसके महत्त्व का नहीं है। इस प्रश्न का अभिप्रेत तो यह जानना है कि सभ्यता के सम्पूर्ण बोध या क्षेत्रीय अंतरों पर किन परिस्थितियों में ज़ोर देना अर्थपूर्ण होता है।

जनपद क्या है : प्रारम्भिक परिभाषाएँ

भूगोलवेत्ता नॉर्टन गिंसबर्ग की एक उक्ति है : क्षेत्र की कोई सार्वभौम परिभाषा नहीं होती। सिवाय इसके कि वह पृथ्वी पर स्थित किसी भू-भाग को इंगित करता है।[1] सच भी यही है कि समाज-विज्ञान के अनुशासनों तथा समाज-वैज्ञानिकों द्वारा अन्वेषित समस्याओं की तरह क्षेत्र की परिभाषाएँ भी अनेकानेक हो सकती हैं। क्षेत्र की अधिकांश परिभाषाएँ भौगोलिक घटक से शुरू होती हैं और इस नुक़्ते पर जाकर ख़त्म होती हैं कि भौगोलिक लक्षणों व भौतिक पर्यावरण के साथ मनुष्य कैसे तालमेल बिठाता है। क्षेत्रों की परिभाषाओं की इस निरंतरता के एक छोर पर प्राकृतिक क्षेत्र का विचार मौजूद है जिसमें केवल क्षेत्र के भौतिक आधार की बात की जाती है।[2] मुझे लगता है कि क्षेत्र का प्राकृतिक घटक अपने आप में बेशक महत्त्वपूर्ण है पर हम जिस तरह का शोध और विश्लेषण करते हैं, उसमें प्राकृतिक घटक को कल्पित माना जा सकता है। मानव-भूगोलवेत्ता पिछले पाँच दशकों से भौगोलिक क्षेत्रों को परिभाषित करने का प्रयत्न करते आ रहे हैं। इस प्रयत्न में भौगोलिक क्षेत्रों के विविध रूपों का विश्लेषण करना भी शामिल रहा है। विश्लेषण के इन समस्त प्रयत्नों और युक्तियों में स्थानगत संबंधों— मनुष्य और भौतिक परिस्थितियों का अध्ययन भी निहित रहा है। हम नॉर्टन गिंसबर्ग द्वारा सम्पादित किताब *द पैटर्न ऑफ़ एशिया* में भारत के भूगोल से संबंधित क्षेत्रीय उपागम या ओ.एच.के. स्पेट की किताब *इण्डिया ऐंड पाकिस्तान : अ जनरल ऐंड रीजनल जियॉग्रफ़ी* से भली-भाँति परिचित हैं। भारत के भौगोलिक विश्लेषण के संदर्भ में ये दोनों पुस्तकें अपनी बेहतरीन विद्वत्ता के लिए जानी जाती हैं। हाल के कुछ वर्षों में भूगोलवेत्ता, अर्थशास्त्री, नियोजनकर्ता, प्रशासक तथा राजनीति-विज्ञानी आदि भारत में नदी घाटी, महानगरीय क्षेत्रों या समान आर्थिक-भौगोलिक तत्त्वों या परिवहन और संचार संबंधी चरों के आधार पर नियोजन क्षेत्र के विचार और उसकी कसौटियों से माथा-पच्ची करते रहे हैं। लेकिन जब से योजना संबंधी कार्यों को सांख्यकीय और/या गणितीय रूप दिया जाने लगा है तब से ऐतिहासिक और/या सांस्कृतिक समस्याओं के अध्ययन की दृष्टि से उनकी तात्कालिक उपयोगिता कम होने लगी है। फिर भी हमारी शोध-संबंधी रुचियों के लिहाज़ से ये गतिविधियाँ फ़ौरी तौर पर भले ही उपयोगी न

क्षेत्र की यह संकल्पना मुख्यतः गैर-भौतिक परिघटना के रूप में प्रकट होती है, जिसे मैं ऐतिहासिक, भाषाई, सांस्कृतिक, सामाजिक-संरचनात्मक और/ या इसी प्रकार के चरों के बीच पारस्परिक संबंध का नाम देना चाहूँगा।

---

[1] नॉर्टन गिंसबर्ग (1958), 'द रीज़नल कंसेप्ट ऐंड प्लैनिंग रीज़ंस इन एशिया ऐंड द फ़ार ईस्ट', एशिया और पूर्वी देशों में क्षेत्रीय नियोजन से संबंधित संयुक्त राष्ट्र के सेमिनार में प्रस्तुत आलेख, टोक्यो : 1.

[2] वी.एल.एस. प्रकाश राव, 'रीजनल कंसेप्ट : अ शॉर्ट रिव्यू नोट', इण्डियन स्टेटिस्टिकल इंस्टीट्यूट, रीज़नल सर्वे यूनिट, रिसर्च ऐंड ट्रेनिंग यूनिट स्कूल, कलकत्ता, एन.डी. : 5.

लगें परंतु हमें संख्या और मात्रा में सोचने वाले अपने सहकर्मियों की इन गतिविधियों पर नज़र ज़रूर रखनी चाहिए। क्योंकि बहुत सम्भव है कि ये लोग इन क्षेत्रों के बीच कोई ऐसा संबंध खोज लें और उसे ऐसे ढंग से पेश कर पायें जिस पर अभी तक हमारा ध्यान ही न गया हो।

हालाँकि तार्किक दृष्टि से क्षेत्र की परिभाषा पृथ्वी के धरातल पर स्थित किसी भू-भाग को इंगित करती है। और भारत में क्षेत्रीय अध्ययन के लिहाज़ से इन मूलत: भौगोलिक उपागमों की महत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। लेकिन हमारे लिए ऐसे उपागम गंतव्य न होकर केवल प्रस्थान बिंदु ही हो सकते हैं। हम जैसे लोगों के लिए क्षेत्र की यह संकल्पना मुख्यत: गैर-भौतिक परिघटना के रूप में प्रकट होती है, जिसे मैं ऐतिहासिक, भाषाई, सांस्कृतिक, सामाजिक-संरचनात्मक और/ या इसी प्रकार के चारों के बीच पारस्परिक संबंध का नाम देना चाहूँगा। भारत में क्षेत्रों तथा क्षेत्रीयता संबंधी इस चर्चा की शुरुआत मैं कुछ परिभाषाओं से करना चाहूँगा।

1. ऐतिहासिक क्षेत्र : ऐतिहासिक क्षेत्र का आशय एक ऐसे क्षेत्र से है जहाँ के निवासी अपने अतीत और भौगोलिक अस्तित्व के संबंध में कुछ पवित्र मिथकों और प्रतीकों में विश्वास रखते हैं। इस संदर्भ में दो उदाहरण दिये जा सकते हैं : तमिलनाडु[3] अर्थात् मद्रास प्रेसीडेंसी के तमिल-भाषी पुराने इलाक़े तथा मद्रास का वर्तमान राज्य और उत्तर प्रदेश का बुंदेलखण्ड क्षेत्र (झांसी, जालौन तथा ललितपुर ज़िले) जो गंगा के मैदानी क्षेत्र से एक अलग भू-भाग है और जिसका बुंदेला राजपूतों की शासक जाति से ऐतिहासिक संबंध रहा है। इस क्षेत्र पर एक सीमा तक बुंदेलों का आधिपत्य भी रहा था। ये सारे तत्त्व आपस में मिलकर बुंदेलखण्ड को ख़ास ऐतिहासिक पहचान प्रदान करते हैं।[4]

भाषाई क्षेत्र में अंतर-सम्प्रेषण आसान रहता है। साझी भाषा वैवाहिक संबंधों के भौगोलिक दायरे को इतना फैला देती है कि नातेदारी की व्यवस्था को उससे बाहर जाने की ज़रूरत नहीं पड़ती। ऐसे किसी क्षेत्र के लोकगीतों और शिष्ट साहित्य में समानता लक्षित की जा सकती है।

2. भाषाई क्षेत्र : भाषाई क्षेत्र एक साझी और साहित्यिक भाषा के क्षेत्र को ज्ञापित करता है। इस क्षेत्र के शिक्षित समूह इस साझी भाषा के मानकीकृत रूप का व्यापक स्तर पर प्रयोग करते हैं। भारत में क्षेत्रीय वर्गीकरण के किसी भी वस्तुनिष्ठ प्रयास को भाषा के वितरण से बार-बार जूझना पड़ता है। इस तरह के अधिकांश प्रयासों में भाषाई विविधता एक आवश्यक पूर्व-शर्त होती है। उसके बिना न भाषाई क्षेत्रों की कसौटी तय की जा सकती है और न सांस्कृतिक और संरचनात्मक क्षेत्रों का अंतर स्पष्ट किया जा सकता है। आमतौर पर ऐतिहासिक, भाषाई, सांस्कृतिक तथा संरचनात्मक क्षेत्रों के बीच अंतर करना इसलिए मुश्किल होता है क्योंकि ऐतिहासिक, भाषाई, सांस्कृतिक तथा संरचनात्मक चरों में एक तरह की परस्परव्यापी घट-बढ़ चलती रहती हैं। बकौल कर्वे भाषाई क्षेत्र में अंतर-सम्प्रेषण आसान रहता है। साझी

---

[3] सी.एम.आर. चेट्टियार (1941), जिओग्राफ़िकल डिस्ट्रीब्युशन ऑफ़ रिलीजस प्लेसिज़ इन तमिलनाडु, *द इण्डियन जिओग्रफ़ीकल जर्नल,* खण्ड 26; एन. सुब्रह्मण्यम (1941), 'रीजनल डिस्ट्रीब्युशन ऐंड रिलेटिव ग्रोथ ऑफ़ द सिटीज़ ऑफ़ तमिलनाडु', *द इण्डियन जिओग्रीफ़िकल जर्नल,* खण्ड 26.

[4] स्पेट, 1951 : 124 तथा 578; बी.एच. बेडेन पॉवेल, लैण्ड सिस्टम्स ऑफ़ ब्रिटिश इण्डिया, खण्ड 2, ऑक्सफ़र्ड, 1892 : 4-5.

भाषा वैवाहिक संबंधों के भौगोलिक दायरे को इतना फैला देती है कि नातेदारी की व्यवस्था को उससे बाहर जाने की ज़रूरत नहीं पड़ती। ऐसे किसी क्षेत्र के लोकगीतों और शिष्ट साहित्य में भी समानता लक्षित की जा सकती है।[5] अगर कर्वे की इस भाषाई पद्धति अर्थात् बांग्ला, तमिल, मराठी आदि से शुरुआत की जाए तो भाषाई वर्गीकरण को भाषा-परिवार जैसे भारोपीय और द्रविड़ के बृहत्तर क्षेत्र तक बढ़ाया जा सकता है या फिर अगर वर्गीकरण का आधार क्षेत्रीय मानकों या क्षेत्रीय बोलियों जैसे अवधी, कोंकणी और पूर्वी पाकिस्तान आदि में बोली जाने वाली बांग्ला बोलियों को बनाया जाए तो क्षेत्रों की कालावधि और उसके स्वरूप का दायरा सीमित भी किया जा सकता है।[6]

3. सांस्कृतिक क्षेत्र : सांस्कृतिक क्षेत्र का आशय एक ऐसे व्यापक क्षेत्र से होता है जिसमें साधारण जन एक ख़ास ढंग का व्यवहार करते पाये जाते हैं और उनके बीच एक साझी सांस्कृतिक विशिष्टता देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए :

बंगाल के लोग विष्णु और शिव के पुरुष अवतारों की पूजा न करके मातृ-शक्ति के रूपों जैसे दुर्गा, काली, चण्डी, लक्ष्मी, सरस्वती, शीतला व अन्य देवियों की आराधना करते हैं। मातृ-शक्ति के इन रूपों की बंगाल के लोकधर्म में विशेष प्रतिष्ठा है। वहाँ मातृ देवी के सर्वोच्च रूप दुर्गा की पूजा तो एक ऐसा आयोजन बन चुका है जो काफ़ी लंबे समय तक चलता है। इसे बंगाल के धार्मिक जीवन का सबसे विशिष्ट लक्षण कहा जा सकता है।[7]

बंगाल के लोग विष्णु और शिव के पुरुष अवतारों की पूजा न करके मातृ-शक्ति के रूपों जैसे दुर्गा, काली, चण्डी, लक्ष्मी, सरस्वती, शीतला व अन्य देवियों की आराधना करते हैं। मातृ-शक्ति के इन रूपों की बंगाल के लोकधर्म में विशेष प्रतिष्ठा है।

किसी क्षेत्र की विशिष्ट पहचान वहाँ के पहनावे, पगड़ी बाँधने की शैली, जेवरात, खेती के औजार, मकानों के प्रकार या बसावट के ढर्रे जैसी सांस्कृतिक चीज़ों से भी बनती है। आवास के प्रकारों तथा बसावट के पैटर्न को भौगोलिक निर्धारकों की श्रेणी में रखा जा सकता है। (लोग घर के निर्माण में पत्थर का उपयोग इसलिए करते हैं क्योंकि उस स्थान पर पत्थर उपलब्ध होता है। घर का प्रकार स्थान विशेष की जलवायु से भी निर्धारित होता है) क्षेत्रीय संस्कृति के निर्धारण में जब बसावट के पैटर्न का एक चर के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है तो उसमें संरचनात्मक लक्षण भी अंतर्भूत होते हैं।[8]

---

[5] इरावती कर्वे (1953), *किनशिप ऑर्गनाइज़ेशन इन इण्डिया,* पूना : 5.

[6] साहित्यिक मानकों तथा बोलियों के क्षेत्रीय मानकों की चर्चा के लिए देखें, चार्ल्स ए. फ़र्ग्युसन और जॉन जे. गुम्पेज (सम्पा.), लैंग्वेज डायवर्सिटी इन साउथ एशिया, *इंटरनैशनल जर्नल ऑफ़ अमेरिकन लिंग्विस्टिक्स,* खण्ड 26, अंक 3, जुलाई, 1960; जॉन गुम्पेज (1957), *सम रिमार्क्स ऑन रीजनल ऐंड सोशल लैंग्वेज डिफ़रेंसिज़ इन इण्डिया, द कॉलेज इंट्रोडक्शन टू द सिवलाइज़ेशन ऑफ़ इण्डिया : चेंजिंग डायमेंशंस ऑफ़ सोसायटी ऐंड कल्चर,* द युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रैस, सिलेबस डिवीज़न, शिकागो, 3, सितंबर : 31-8; तथा जॉन गुम्पेज (1957), 'लैंग्वेज प्रॉब्लम्स इन द रूरल डिवलेपमेंट ऑफ़ नॉर्थ इण्डिया', *द जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़,* खण्ड 26, अंक 2, फ़रवरी : 251-9.

[7] एच.सी. चकलादर (1941), 'द प्रिहिस्टॉरिक कल्चर ऑफ़ बंगाल', *मैन इन इण्डिया,* खण्ड 21, 1941, अंक 4 : 209-10.

[8] इन चरों पर आधारित वर्गीकरण के उदाहरणों के लिए देखें : गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया, एंथ्रॉपॉलिजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया (1961), 'पीजेंट लाइफ़ इन इण्डिया, अ स्टडी इन इण्डियन युनिटी ऐंड डायवर्सिटी', *मेमॉअर* 8; के.बी. सुब्रह्मण्यम (1938),

4. संरचनात्मक क्षेत्र : संरचनात्मक क्षेत्र का निर्धारण संरचनात्मक चरों के कुछ ऐसे संयुक्त समूहों के आधार पर किया जाता है जिनसे दो क्षेत्रों के संरचनागत अंतरों की निशानदेही की जा सकती है। सामाजिक संरचनात्मक चरों को एक दूसरे से अलग करके देखना और उनका विश्लेषण करना क्षेत्रीय अध्ययन को एक सुसंगत और विश्लेषणपरक आधार देने के लिहाज़ से सबसे ताज़ा प्रयास कहा जा सकता है। क्षेत्रीय विश्लेषण का यह रूप भारत में क्षेत्रीय वर्गीकरण के भौगोलिक व सांस्कृतिक प्रयासों में निस्संदेह पहले से निहित रहा है। मैकिम मैरिऑट के लेख 'कास्ट रैंकिंग ऐंड कम्युनिटी स्ट्रक्चर इन फ़ाइव रीज़ंस ऑफ़ इण्डिया' को क्षेत्रीय अध्ययन की इस दृष्टि का प्रमुख उदाहरण माना जा सकता है।[9] अपने अध्ययन में मैरिऑट यह दावा करते हैं कि अगर जाति को संरचनात्मक दृष्टि से देखा जाए और समूचे उपमहाद्वीप में जाति-व्यवस्था के एक लक्षण अर्थात् जाति के श्रेणी-स्थान की भिन्नता का अध्ययन किया जाए तो उसका एक विस्तृत और आरोही पैमाना बनाया जा सकता है तथा इस पैमाने पर किसी क्षेत्र और जाति-व्यवस्था के किसी एक लक्षण का तुलनात्मक मान अंकित किया जा सकता है। मैरिऑट के समक्ष उद्देश्य यह था कि :

भारत और पाकिस्तान में जाति के कुछ विलक्षण तत्त्व तथा संयोग पर आधारित भिन्नताओं को तो फिर भी पारम्परिक तरीक़े से समझा जा सकता है परंतु जब जाति की परिघटनाओं की पड़ताल इतिहास के एकांत में या महाद्वीप के फलक पर फैले समकालीन ढेर की तरह नहीं की जाती स्थानीय और क्षेत्रीय स्तर पर की जाती है तथा इस प्रकिया में इस बात का ख़याल रखा जाता है कि यह स्थानीयता और क्षेत्रीयता विभिन्न सामाजिक संरचनाओं के किसान समुदायों का स्पर्श ज़रूर करे।[10]

मैरिऑट निगमन की पद्धति का उपयोग करते हुए जाति की हैसियत से जुड़े चार विस्तृत और परिवर्तनशील निर्धारक तय करते हैं : जाति-व्यवस्था में जातीय समूहों (उप-जाति) की संख्या, समूहों की प्रकट असमानताओं की गम्भीरता तथा उनकी स्वीकार्यता के प्रति लोगों का नज़रिया और व्यवहार, समुदाय के सदस्यों में समूहों की हैसियत को लेकर पक्की सहमति, और आख़िर में, स्थानीय स्तर पर अंत:क्रियात्मक समूहों की एक समतुल्य हैसियत वाली श्रृंखला को अन्य समूहों से अलगाने की ज़रूरत।

मैरिऑट के मोनोग्राफ़ का बड़ा हिस्सा इन चार चरों के महत्त्व को निगमनात्मक ढंग से उकेरते हुए यह दिखाता है कि इन चरों जाति की हैसियत के विश्लेषण में किस तरह नियोजित किया जा सकता है। मैरिऑट अपने इस विश्लेषण का नामकरण क्षेत्रों के आधार पर करते हैं। मैरिऑट ने केरल के कोरोमण्डल (दोनों तेलुगु और तमिल भाषी ज़िले हैं किंतु तमिल का व्यवहार ज़्यादा होता है।), गंगा के उपरी क्षेत्र (उत्तर प्रदेश- गंगा घाटी के तीस ज़िले) , सिंधु के मध्यवर्ती क्षेत्र (पाकिस्तान का मुसलिम बहुल पश्चिमी पंजाब क्षेत्र) तथा बंगाल डेल्टा आदि क्षेत्रों की तुलना की है। मैरिऑट द्वारा प्रस्तावित क्षेत्रों का यह चयन और परिसीमन एक हद तक आज़ादी से पहले की जाने वाली जनसंख्या गणना के प्रांतीय वर्गीकरण पर आधारित था। मैरिऑट ने यह युक्ति इसलिए अपनाई ताकि वे अपने विश्लेषण में संख्यात्मक आँकड़ों का प्रयोग कर सकें। हालाँकि वस्तुनिष्ठता के लिहाज़ से क्षेत्रों

फ़ोर मेन हाउस टाइप्स इन साउथ इण्डिया : देअर जिओग्रफ़िकल कंट्रोल्स, जर्नल ऑफ़ द मद्रास जिओग्रफ़िकल एसोसिएशन, खण्ड 13 : 168-75; ए.टी.ए तथा ए.एम. लीयरमाउथ (1955), 'आस्पेक्ट्स ऑफ़ विलेज लाइफ इन इण्डो-पाकिस्तान', *जिओग्रफ़ी,* खण्ड 40, भाग 3, अंक 189, जुलाई : 145-160; इरावती कर्वे (1957), 'द इण्डियन विलेज', *बुलेटिन ऑफ़ द डेक्न कॉलेज ऐंड रिसर्च इंस्टीट्यूट,* खण्ड 18, जनवरी : 73-106.

[9] डेक्कन कॉलेज मॉनोग्राफ़ सीरीज़ : 23, (पूना, 1960).

[10] मैरिऑट : 1.

का यह वर्गीकरण दुरुस्त नहीं है परंतु हमारे लिए ज़्यादा काम की बात यह है कि मैरिऑट की यह युक्ति क्षेत्रों का सीमांकन करने का प्रयत्न करती है जिससे संरचनात्मक चरों के बीच तुलना करने में मदद मिलती है। भारत में क्षेत्रों की पड़ताल की दृष्टि से मैरिऑट का अध्ययन एक नयी ज़मीन तोड़ता है। इस संदर्भ में कोलेण्डा का जजमानी व्यवस्था और संयुक्त परिवार पर केंद्रित अध्ययन भी इस बात की तस्दीक करता है कि संरचनात्मक क्षेत्रों के बीच तुलना करना एक सार्थक कर्म है। संरचनात्मक क्षेत्रों की तुलनात्मक इकाईयों का उपयोग बेली, निकोलस व अन्य विद्वानों के भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के प्रकार-निरुपण में भी देखा जा सकता है।

क्षेत्र क्या है : एक परिचर्चा

क्षेत्र की परिभाषा के इन प्रचलित प्रकारों और उनकी भिन्नताओं के संक्षिप्त अवलोकन के बाद मैं पुन: उन समस्याओं पर चर्चा करना चाहूँगा जो परिभाषाओं का निर्धारण करते समय दरपेश होती हैं।

अभी तक वर्गीकरण के ज़्यादातर प्रयास क्षेत्र को एक पूरी तरह तुलनीय पद मानते रहे हैं। उदाहरण के लिए, भाषिक वर्गीकरण में जब एक बार यह तय कर लिया जाता है कि क्षेत्रों का सीमांकन करने में भाषा के किस स्तर का इस्तेमाल किया जा रहा है तो फिर इस प्रक्रिया द्वारा निर्धारित किये गये क्षेत्रों को भी एक दूसरे से तुलनीय मान लिया जाता है। लेकिन यह धारणा साहित्यिक और वर्नाक्युलर के अंतर तथा शहरी और ग्रामीण क्षेत्र में उनके आपेक्षिक वितरण , किसी चिह्नित इलाके में मुख्य व प्रमुख भाषा के अलावा अन्य भाषा के प्रयोक्ताओं की उल्लेखनीय मौजूदगी (जैसे पूर्वी भारत में मुण्डारी भाषा की उपस्थिति), उत्तर प्रदेश की दो स्थापित, एक दूसरे में गुँथी तथा साझी सांस्कृतिक परम्पराओं की वाहक जैसे उर्दू और हिंदी, या हैदराबाद में उर्दू और तेलुगू जैसे कई बुनियादी मसलों को भी दरकिनार कर देती है। मुझे लगता है कि इस संदर्भ में किसी क्षेत्र में अंतर-संचार को जितना आसान मान लिया जाता है वह उतना सरल मामला नहीं है। जैसा कि गम्पर्ज तथा अन्य विद्वानों ने दर्शाया है, किसी भाषाई क्षेत्र में यह धारणा कि गाँव या देहात के स्तर पर सब लोग एक दूसरे की भाषा समझ लेते हैं, बहुत दूर तक साथ नहीं देती। वास्तविकता यह है कि कई मामलों में गाँव के किसी निरक्षर आदमी की स्थानीय बोली सौ किलोमीटर दूर स्थित क्षेत्र में जाते ही उसी जैसे ग्रामीण व्यक्ति के लिए अपरिचित हो जाती है। छोटे क़स्बे या बाज़ार के स्तर पर बोली जाने वाली क्षेत्रीय बोलियों का गाँवों की बोलियों के मुक़ाबले ज़्यादा विस्तार होता है। उन्नीसवीं सदी के दौरान प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा का प्रसार हुआ जिसमें परिनिष्ठित भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया गया । जिसके परिणामस्वरूप तत्कालीन शहरों में एक ऐसे शिक्षित वर्ग का उदय हुआ जिसकी भाषा तो विश्रृंखल थी पर उसका दायरा ख़ासा व्यापक था। क्षेत्रीय वर्गीकरण के क्रम में भाषाई कसौटी के उपयोग का प्रश्न वास्तव में भाषा तक सीमित न रहकर सामाजिक भी हो जाता है। इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि केवल भाषिक वितरण के आधार पर किसी सुगठित और सुसम्बद्ध क्षेत्र का निर्माण किया जा सकता है। जाहिर है कि इस संदर्भ में अध्येता को भाषा के स्थानीय और अंतर-क्षेत्रीय पहलुओं का ध्यान रखना पड़ता है।

किसी भाषाई क्षेत्र में यह धारणा कि गाँव या देहात के स्तर पर सब लोग एक दूसरे की भाषा समझ लेते हैं, बहुत दूर तक साथ नहीं देती। वास्तविकता यह है कि कई मामलों में गाँव के किसी निरक्षर आदमी की स्थानीय बोली सौ किलोमीटर दूर स्थित क्षेत्र में जाते ही उसी जैसे ग्रामीण व्यक्ति के लिए अपरिचित हो जाती है।

मुद्रण की तकनीक ने कारण साहित्यिक भाषाओं के मानकीकरण को अनिवार्य बना दिया। पहले यह बात इतनी आम नहीं थी। स्कूलों के ज़रिये सस्ती और मुद्रित सामग्री की उपलब्धता क्षेत्रों के निर्माण में एक अन्य समस्या— समय अथवा ऐतिहासिक कारक की ओर इंगित करती है। अगर हम अट्‌ठारहवीं सदी के मध्य में क्षेत्रीय भाषाओं का वर्गीकरण करने चलें तो हमारी सीमा-रेखाएँ उन तमाम लोगों से अलहदा होंगी जिन्होंने 1955 में राज्य पुनर्गठन आयोग के समक्ष अपने साक्ष्य पेश किये थे। एक हद तक यह बात ठीक है कि इस बीच आबादी में भारी उथल पुथल हो चुकी है और उससे भाषाएँ भी असंपृक्त नहीं रही है परंतु मुझे लगता है कि विगत कालखण्डों में भाषा पर आधारित इस क्षेत्रीय वर्गीकरण के लिए हमें साहित्यिक भाषाओं के बजाय क्षेत्रीय बोलियों की सीमा-रेखा को स्वीकार करना होगा। राज्य पुनर्गठन आयोग ने पिछली डेढ़ सदी में विकसित होने वाले साहित्यिक मानकों अथवा क्षेत्रीय भाषाओं के इस सत्य को बेबाक़ी से स्वीकार किया है :

पिछले सौ वर्षों के दौरान भारत के राजनीतिक विकासक्रम में हमारी क्षेत्रीय भाषाएँ प्रमुख तत्व रही हैं। अभिव्यक्ति की दृष्टि से इस कालावधि में ये भाषाएँ निरंतर समृद्ध और सक्षम होती गयी हैं, जिससे इन भाषाओं के प्रयोक्ताओं में एकता का भाव पैदा हुआ है।[11]

मैंने भाषाई क्षेत्रों के निर्धारण में आने वाली जिन दिक़्क़तों का शुरुआती जायज़ा लेने की कोशिश की है उससे क्षेत्रीय वर्गीकरण के भी कई सारे मुद्दे वाबस्ता हैं। ऊपर से देखने पर भाषाई वितरण का नक़्शा तैयार करना काफ़ी सरल और सपाट काम लगता है। बोलियों के विशेषज्ञ और भाषाविद् इस मामले में भाषिक नमूने जुटाकर उन्हें नक़्शे पर चस्पाँ कर देने जैसी सरल तकनीक आजमाते रहे हैं। परंतु यह बात साफ़ है कि नक़्शे पर किसी भाषा की हद तय करने का मसला इस बात से जुड़ा होता है कि हम किसी भाषा को परिभाषित कैसे करते हैं। हम क्षेत्रीय मानकों का भी मानचित्र तैयार कर सकते हैं और उसके बाद उन मानकों में विन्यस्त क्षेत्रीय बोलियों के वितरण को भी चिह्नित कर सकते हैं। पर भाषाओं के इस क्षेत्रीय वितरण में भाषाओं का एक अलग वृत्त भी होता है। इसे हम मानव-भूगोल का एक प्रकार्य मान सकते हैं। मसलन, मुण्डारी भाषा बोलने वाले लोग दूरस्थ पहाड़ी क्षेत्रों में रहते हैं। सुविकसित और अलग अलग प्रकार की भाषाई और सांस्कृतिक परम्पराओं का प्रश्न मुण्डारी तथा अन्य आदिवासी भाषाओं की तुलना में ज़्यादा जटिल रहा है। भाषाई क्षेत्र में बहुभाषिता का सबसे परिचित और दिलचस्प उदाहरण उर्दू और हिंदी का रहा है। इस क्षेत्र की स्थिति यह है कि अगर कोई व्यक्ति दोनों में से किसी एक को अपनी भाषा बताता है तो उसमें हिंदू और मुसलमान-दोनों लाजिमी तौर पर शामिल पाए जाते हैं। अट्‌ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में हिंदू और मुसलमानों पर फ़ारसी संस्कृति का प्रभाव भी लक्षित किया जा सकता है। पंजाब में हिंदी और पंजाबी का वितरण हिंदू और सिक्खों की धार्मिक भिन्नताओं से सम्बद्ध है। बहुभाषिक

क्षेत्रीय वर्गीकरण के क्रम में भाषाई कसौटी के उपयोग का प्रश्न वास्तव में भाषा तक सीमित न रहकर सामाजिक भी हो जाता है। इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि केवल भाषिक वितरण के आधार पर किसी सुगठित और सुसम्बद्ध क्षेत्र का निर्माण किया जा सकता है।

[11] *रिपोर्ट ऑफ़ द स्टेट्स रिऑर्गनाइज़ेशन कमीशन* (1955), नयी दिल्ली : 35.

परम्परा के इस वितरण से शहरी बनाम ग्रामीण वितरण का प्रश्न भी जुड़ा है। इस संदर्भ में हिंदी या हिंदुस्तानी को पुन: एक उदाहरण की तरह देखा जा सकता है। मूलत: हिंदी या हिंदुस्तानी बोलने वाले लोग कलकत्ता से लेकर बम्बई तथा नागपुर से लेकर लाहौर तक फैले हैं। बम्बई और कलकत्ता जैसे स्थानों में हिंदी भाषियों की सामाजिक स्थिति काफ़ी निम्न है। उनमें बहुत से लोग हाल में आने वाले अस्थायी क़िस्म के आप्रवासी हैं। जबकि अन्य कई मामलों में मूल हिंदी या हिंदुस्तानी भाषी, जो हिंदुस्तानी के साथ अपनी क्षेत्रीय भाषा का भी इस्तेमाल करते हैं, कई पीढ़ियों से शहर में रह रहे हैं। ऐसे लोगों की स्थिति न मुण्डारी भाषी आदिवासियों जैसी है, न कलकत्ता के व्यावसायिक समुदाय— मारवाड़ियों और न ही हाल में आकर बसे आप्रवासियों जैसी है। इसके उलट इन लोगों की शहर के एक ऐसे पारम्परिक व्यावसायिक या प्रशासनिक अभिजन में शुमारी की जा सकती है जो पूरी तरह शहरी जीवन शैली का प्रतिनिधित्व करता है। अत: उत्तरी या मध्य भारत में क्षेत्रीय मानकों और बोलियों के आपसी संबंध से रहित तथा जीवन शैली की बहुलता में किसी एक भाषा के सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को दर्शाये बिना और इनमें सबसे ऊपर समय/ऐतिहासिक कारक पर ध्यान दिये बिना ऐसा कोई भी भाषाई वर्गीकरण करना भारतीय समाज और संस्कृति के प्रति अन्याय कहा जाएगा।

हिंदी या हिंदुस्तानी बोलने वाले लोग कलकत्ता से लेकर बम्बई तथा नागपुर से लेकर लाहौर तक फैले हैं। बम्बई और कलकत्ता जैसे स्थानों में हिंदी भाषियों की सामाजिक स्थिति काफ़ी निम्न है। उनमें बहुत से लोग हाल में आने वाले अस्थायी क़िस्म के आप्रवासी हैं।

चूँकि यहाँ मै इस बात पर ज़ोर दे रहा हूँ कि क्षेत्रीय वर्गीकरण में परिघटना के निपट एकायामी वितरण के बजाय समय ज़्यादा बड़ा कारक होता है, लिहाज़ा अब मैं ऐतिहासिक क्षेत्रों पर विचार करना चाहूँगा। मुझे लगता है कि बाहरी तौर पर ऐतिहासिक क्षेत्रों में भाषाई क्षेत्रों जैसी सटीकता या स्पष्टता नहीं होती। ज़ाहिर है कि यहाँ हम व्यक्ति या समूह द्वारा बोली जानी वाली भाषा की तरह किसी एकल परिघटना की बात न करके कम से कम दो अलग अलग परंतु एक दूसरे से सुसम्बद्ध परिघटनाओं— प्रतीक-मिथक व सांस्कृतिक-ऐतिहासिक पहचानों तथा राजनीतिक राज्यों व उनकी सीमाओं की आपेक्षिक मौजूदगी की बात कर रहे हैं।

ऐतिहासिक क्षेत्रों की सच्चाई स्वीकार करने के क्रम में यह बात शुरू में ही साफ़ कर ली जानी चाहिए कि ऐतिहासिक क्षेत्रों का कोई एक प्रकार नहीं होता। इसलिए मुझे लगता है कि क्षेत्रीय वर्गीकरण के तत्त्व पर बात करने से पहले ऐतिहासिक क्षेत्रों का एक विहंगम विश्लेषण कर लिया जाना चाहिए। इस क्रम में न्यूक्लियर या स्थायी, शैटर जॉन या यात्रा-मार्गीय क्षेत्र, कल डी सैक तथा आपेक्षिक रूप से अलग थलग पड़े ऐतिहासिक क्षेत्रों पर विचार करना उपयोगी होगा।[12]

न्यूक्लियर या स्थायी क्षेत्रों में सिंधु, गंगा, नर्मदा, ताप्ती, गोदावरी, कृष्णा तथा कावेरी जैसी नदियों के घाटी क्षेत्र को शामिल किया जा सकता

[12] यहाँ मैंने निम्नलिखित विद्वानों की रचनाओं का अनुसरण किया है : विनीफ्रेड एम. डे (1949), 'रिलेटिव पर्मानेंस ऑफ़ बाउंड्रीज इन इण्डिया', *द स्कॉटिश जिओग्राफिकल मैगज़ीन,* खण्ड 65, अंक 3, दिसम्बर : 113-22; बेंदापुद्दी सुब्बाराव (1956), 'द पर्सनैलिटी ऑफ़ इण्डिया : अ स्टडी इन द डिवलेपमेंट ऑफ़ द मैटिरिअल कल्चर ऑफ़ इण्डिया ऐंड पाकिस्तान', *एम.एस. युनिवर्सिटी आर्कियोलॉजी सीरीज* : 3, बड़ौदा : 1-20; ओ.एच.के. स्पेट (1954), *इण्डिया ऐंड पाकिस्तान : अ जनरल ऐंड रीजनल जिओग्राफ़ी,* लंदन : 144-150.

है। हालाँकि ये क्षेत्र विजेताओं के लिए हमेशा आकर्षण के केंद्र रहे हैं परंतु पारिस्थितिकीय–खेतिहर ढाँचे की मज़बूती के कारण यहाँ न केवल विशाल राज्यों के निर्माण की परिस्थितियाँ बनती रहीं बल्कि बृहद परम्पराओं और क्षेत्रीय भिन्नताओं का भी विकास होता रहा। इन तत्त्वों के कारण ये क्षेत्र अपनी पहचान बनाये रखने में सफल रहे। उदाहरण के लिए, कृष्णा और गोदावरी के निचले क्षेत्र को प्रारम्भिक काल से ही आंध्र तथा गंगा–जमुना के दोआब में स्थित कोशल को अट्ठारहवीं सदी से ही अवध के रूप में चिह्नित किया जाता रहा है। कोशल क्षेत्र का एक बड़ा हिस्सा आज उत्तर प्रदेश में समाहित है।

कृष्णा और गोदावरी के निचले क्षेत्र को प्रारम्भिक काल से ही आंध्र तथा गंगा–जमुना के दोआब में स्थित कोशल को अट्ठारहवीं सदी से ही अवध के रूप में चिह्नित किया जाता रहा है। कोशल क्षेत्र का एक बड़ा हिस्सा आज उत्तर प्रदेश में समाहित है।

शैटर जोन या घाटी–क्षेत्र पर्वतों के बीच स्थित एक ऐसा भू–भाग होता है जिसका इतिहास के विभिन्न कालखंडों में सामान्य जन या सेनाओं आवागमन के लिए इस्तेमाल किया जाता है। ऐसे क्षेत्र वस्तुत: न्यूक्लियर क्षेत्रों को जोड़ने का काम करते हैं। इन क्षेत्रों में कोई सुगठित राजनीतिक परम्परा नहीं पायी जाती। सामाजिक और सांस्कृतिक अर्थ में ऐसे क्षेत्रों में एकसार समाज नहीं पाया जाता। इसमें आपेक्षिक पृथकता तथा स्थायी न्यूक्लियर क्षेत्रों– दोनों के तत्त्व चिह्नित किये जा सकते हैं। मालवा एक ऐसा ही पर्वत–घाटी क्षेत्र है। एड्रियन मेयेर मालवा की स्थिति का सारतत्त्व इस तरह प्रस्तुत करते हैं :

मालवा का इतिहास बेहद घटनापूर्ण रहा है। जिसकी एक वजह यह है कि वह उत्तरी भारत और दक्कन के बीच सबसे उपयुक्त मार्ग रहा है। इसी कारण वह विजेताओं को भी आकर्षित करता रहा है। शांति के काल में मालवा की उपजाऊ जमीन ने समृद्ध राज्यों को भी सहारा दिया है...[13]

क्षेत्र में राज्यों का उत्थान–पतन होता रहा। कई बार इस क्षेत्र में स्वतंत्र राज्य अस्तित्व में आये और कई बार उनकी हैसियत न्यूक्लियर क्षेत्र के राज्यों के पुछल्ले की तरह रही। अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में यह क्षेत्र युद्धों और अफ़रा–तफ़री का अखाड़ा बना रहा। इसलिए यह अकारण नहीं है कि इस क्षेत्र की अनेक जातियाँ विदेशी मूल की मानी जाती हैं। मेयेर के हवाले से पता चलता है कि क्षेत्र का रामखेड़ी नामक गाँव बीसवीं सदी की शुरुआत में नये सिरे से बसाया गया था।

1899–1900 में आये अकाल ने पूरे गाँव को लील लिया। कई जाति समूहों का नामो निशाँ मिट गया। और बाक़ी बचे लोग भुखमरी के कारण गाँव छोड़कर चले गये। अकाल के बाद महारानी ने मौत और पलायन से तबाह हुए गाँव को दुबारा आबाद करने के लिए वहाँ नए लोगों को बसने के लिए प्रोत्साहन दिया। गाँव के 257 वयस्क लोगों में 35 लोग तो ख़ुद ऐसे हैं जो बाहर से आकर बसे हैं और 109 लोग ऐसे हैं जिनके पड़दादा रामखेड़ी में आकर बसे थे।[14]

पता नहीं इसे रामखेड़ी के समाजशास्त्र और इतिहास का असर कहा जाए या कुछ और किंतु मेयेर ने अपने अध्ययन में रामखेड़ी के निवासियों को जिस तरह चित्रित किया है उससे

---

[13] एड्रियन मेयर (1960), *कास्ट ऐंड किनशिप इन सेंट्रल इण्डिया,* बर्कले : 11.

[14] वही : 19.

उनका क्षेत्रीय और ऐतिहासिक बोध काफ़ी विकसित जान पड़ता है। मेयेर मालवा के इतिहास का उपसंहार इस वक्तव्य से करते हैं :

मैंने इतिहास का यह स्केच दो कारणों से खींचा हैं। पहला, मैं यह दर्शाना चाहता हूँ कि मालवा का एक अपना इतिहास रहा है जिससे रामखेड़ी के निवासी भलीभाँति परिचित हैं। उन्हें विक्रमादित्य के स्वर्ण काल की स्मृति है। वे राजा भोज के शासन की समृद्धि की बातें करते हैं। उन्हें मुसलमान शासकों के ऐश्वर्य और माँडू के महलों के बारे में भी पता है। यह अलग बात है कि वे कभी माँडू गये हैं या नहीं। उनके तईं उज्जैन कर्मकाण्ड और संस्कृति का सर्वोच्च केंद्र है। मालवावासी यहाँ हर बारह वर्ष पर लगने वाले मेले की तुलना गंगा तट पर लगने वाले मेले से करते हुए गर्व महसूस करते हैं। संक्षेप में, यहाँ के लोग इस बात को लेकर सजग हैं कि वे भारत के एक ख़ास प्रांत के निवासी हैं और जिसे वे जलवायु और संस्कृति के लिहाज़ से अन्य सभी प्रांतों में सबसे ऊँचा मानते हैं।[15]

मालवा का एक अपना इतिहास रहा है ...। उन्हें विक्रमादित्य के स्वर्ण काल की स्मृति है। वे राजा भोज के शासन की समृद्धि की बातें करते हैं। उन्हें मुसलमान शासकों के ऐश्वर्य और माँडू के महलों के बारे में भी पता है। यह अलग बात है कि वे कभी माँडू गये हैं या नहीं। उनके तईं उज्जैन कर्मकाण्ड और संस्कृति का सर्वोच्च केंद्र है।

मालवा केवल एक ऐसा यात्रामार्गीय क्षेत्र नहीं है जो दिल्ली के क्षेत्र को गुजरात, दक्कन तथा भारत के पश्चिमी तट से जोड़ता है। उसका दूसरा पक्ष यह भी है कि वह मध्य भारत की पर्वतीय पट्टी का भी यात्रा मार्ग है। इसलिए इतिहास के शुरुआती काल से ही प्रवासी लोगों का इस क्षेत्र से आना-जाना लगा रहा है। बहुत से प्रवासियों ने इस क्षेत्र को अपना स्थायी निवास भी बना लिया है। वेंकटाचार ने 1931 में सेंट्रल इण्डिया एजेंसी की जनगणना में यहाँ तेईस प्रमुख जातियों का उल्लेख किया है। इनमें ब्राह्मण, बनिया तथा राजपूत जैसी पंद्रह ऊँची जातियों में प्रवास के साक्ष्य स्पष्टतया देखे जा सकते हैं।[16] इनमें कई जातियाँ मुसलमान आक्रमणकारियों के साथ यहाँ आयी थी। जबकि खाती और बनिया क्रमश: मराठों और अंग्रेज़ों के साथ इधर आये थे। इनके अलावा बाकी जातियों ने अपने मूल स्थानों पर आये अकाल और अव्यवस्था के कारण यहाँ का रुख किया था।

यात्रामार्गीय क्षेत्र का एक प्रकार ऐसा भी है जिसे जातीय सीमांत क्षेत्र कहा जा सकता है। इसे मैदान और पहाड़ों के बीच पड़ने वाले संक्रमण-क्षेत्र के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इस क्षेत्र में मैदानी क्षेत्र के हिंदू पहाड़ी लोगों पर राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक नियंत्रण स्थापित करते जा रहे हैं।[18] एस.सी. दुबे ने अपने लेख 'अ डेक्कन विलेज'[19] में एक ऐसे ही संक्रमण-क्षेत्र की जटिलताओं पर विचार किया है। एक हज़ार से थोड़ी सी ज़्यादा आबादी वाला देवारा नामक यह गाँव दक्कनी पठार के सीमांत पर पड़ता है जो है तो मुख्यत: एक आदिवासी क्षेत्र लेकिन उसे

---

[15] वही : 13.

[16] सी.एस. वेंकटाचार (1931), 'सेंट्रल इण्डिया एजेंसी : रिपोर्ट पार्ट 1, *सेंसस ऑफ़ इण्डिया,* 1931, खण्ड 20, कलकत्ता : 276.

[17] वेंकटाचार : 272-9, देखें मानचित्र सं. 278.

[18] एफ़.जी. बेली, कास्ट ऐंड द इकनॉमिक फ्रंटिअर ऐंड द ट्राइब, कास्ट ऐंड नेशन.

[19] 'इण्डियाज़ विलजेज़' (1955), *इकनॉमिक वीकली,* वेस्ट बंगाल गवर्नमेंट प्रेस : 180-191.

तेलंगाना तथा मराठवाड़ा की संस्कृतियों का मिलन-बिंदु[20] कहा जा सकता है। इस गाँव में चार अलग अलग समूह रहते हैं। जिनमें आदिवासी (405), तेलुगु (446), मराठा (132), तथा मुसलमान (107) शामिल हैं। भाषा और अपनी संरचना के लिहाज़ से इनमें हर समूह दूसरे समूह से दूरी बरतता है। आदिवासियों (गाँव में इनके तीन स्पष्ट उपसमूह हैं), तेलुगु (13 जातियाँ) तथा मराठों (5 जातियाँ) का आंतरिक पदानुक्रम एक दूसरे से पूरी तरह अलग है। हर समूह की धार्मिक आस्था तथा प्रथाएँ दूसरे से भिन्न है। हर जातीय समूह में संबंधों की एक अलग व्यवस्था है। इस संबंध में दुबे यह भी कहते हैं कि गाँव में एक तरह से सहजीविता की स्थिति विद्यमान है जिसके कारण समूहों के बीच एक विशिष्ट प्रकार का आंतरिक समायोजन दिखाई देता है[21] असल में, सामाजिक सहजीविता की प्रकृति; समूहों के बीच आंतरिक समायोजन का विशिष्ट रूप तथा एक ही सामाजिक व्यवस्था के अंदर अलग अलग संरचनाओं और संस्कृतियों की मौजूदगी इस संक्रमण-क्षेत्र को यात्रामार्गीय क्षेत्र का एक उप-प्रकार सिद्ध करती है।

ऐतिहासिक क्षेत्र का अंतिम रूप आपेक्षिक अलगाव का क्षेत्र होता है। इसकी हम बंद गली से तुलना कर सकते हैं। अपनी एक ख़ास भौगोलिक और पारिस्थितिकीय के कारण इन क्षेत्रों में आवागमन मुश्किल रहता है। लिहाज़ा वे न्यूक्लियर और यात्रामार्गीय क्षेत्रों की प्रक्रियाओं और घटनाओं से अप्रभावित रहते हैं।

ऐतिहासिक क्षेत्र का अंतिम रूप आपेक्षिक अलगाव का क्षेत्र होता है। इसकी हम बंद गली से तुलना कर सकते हैं। अपनी एक ख़ास भौगोलिक और पारिस्थितिकीय के कारण इन क्षेत्रों में आवागमन मुश्किल रहता है। लिहाज़ा वे न्यूक्लियर और यात्रामार्गीय क्षेत्रों की प्रक्रियाओं और घटनाओं से अप्रभावित रहते हैं। ऐसे क्षेत्र दक्षिण ऐशिया के सीमांत—उप-हिमालयी क्षेत्रों या मध्य भारत के पर्वतीय इलाक़ों में पाये जाते हैं। अपनी विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियों और दुर्गमता के कारण ऐसे क्षेत्र प्रवासियों के लिए शरण-स्थल साबित हुए हैं। ऐसे क्षेत्र में बसने पर प्रवासियों की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था ख़ास रूप ग्रहण करने लगती है। गेराल्ड बेरमन ने अपनी पुस्तक *हिंदूज ऑफ़ हिमालयाज* में इस स्थिति का वर्णन किया है।

इस संदर्भ में दूसरा उदाहरण छत्तीसगढ़ का लिया जा सकता है जहाँ तमाम दुर्गमता और प्रतिकूलताओं के बावजूद एक विशिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था का विकास हुआ है। (देखें बिलासपुर डिस्ट्रिक्ट गज़ेटिअर)। परंतु दुर्गमता के इस तथ्य को केवल पहाड़ी क्षेत्र की विशालता और दूरस्थता के अर्थ में ही नहीं देखा जाना चाहिए। मुझे लगता है कि बंगाल और केरल, जो दसवीं शताब्दी से ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहे हैं, भी दो ऐसे ही क्षेत्र हैं जिन्हें आपेक्षिक दुर्गमता की श्रेणी में रखा जा सकता है। हालाँकि हिंद महासागर के व्यापारिक क्षेत्र का अंग होने के नाते केरल का प्रागैतिहासिक काल से ही भारत के पश्चिमी तटीय क्षेत्र से गहरा सम्पर्क रहा है। परंतु पश्चिमी घाट के कारण वह दक्षिण भारत से अलग थलग रहा है:

पश्चिम दिशा से देखने पर पश्चिमी घाट एक विशालकाय समुद्री-दीवार की तरह नज़र आते हैं। तट रेखा के अनुपात में उत्तरोत्तर बढ़ते क्रम के कारण ही उन्हें घाट कहा जाता है। खड़ी

[20] वही : 180.
[21] वही : 189.

ऊँचाई और कटी फटी पर्वत-शृंखला के इस विस्तार की ऊँचाई उत्तरी छोर पर पहुँच कर समुद्र तल से कोई 2000 फ़ुट हो जाती है। और बढ़ते बढ़ते बम्बई के अक्षांश- 4000 फ़ुट तक पहुँच जाती है। आमतौर पर पश्चिमी घाट की इन पहाड़ियों की ऊँचाई दक्षिण की ओर बढ़ती जाती है। नीलगिरी की पहाड़ियों पर 8,760 फ़ुट की उंचाई पर स्थित डोडाबेट्टा उसका सर्वोच्च बिंदू है, जहाँ प्रायद्वीप की उलटी दिशा से आने वाली पूर्वी घाट की पहाड़ियाँ पश्चिमी घाट के साथ एकाकार हो जाती हैं। नीलगिरी पठार के दक्षिण में ही पाल घाट या कोयम्बतूर का वह अंतराल है जहाँ पश्चिमी घाट की पहाड़ियों का क्रम पहली बार भंग होता है। उत्तर से दक्षिण की ओर स्थित बीस किलोमीटर लम्बे इस अंतराल की ऊँचाई समुद्र तल से लगभग एक हज़ार फ़ुट है। यही अंतराल कारनाटिक को मालाबार तट से जोड़ने का मार्ग प्रदान करता है।[22]

मालाबार के बंदरगाहों से चलने वाला व्यापार कोयम्बतूर के इसी अंतराल से गुजरता था। इस तरह केरल की दुर्गमता आपेक्षिक ही कही जाएगी परंतु इस क्षेत्र की विशिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था और उसके संरचनात्मक रूपों के निर्माण में उसकी भूमिका निर्णायक रही है।

बंगाल को न्यूक्लियर क्षेत्र के बजाय आपेक्षिक रूप से एक दुर्गम क्षेत्र बताना बंगालियों को बेशक नागवार गुजरेगा लेकिन मेरा स्पष्ट मत है कि अठारहवीं सदी तक गंगा घाटी के न्यूक्लियर क्षेत्र की तुलना में बंगाल आपेक्षिक तौर पर एक दुर्गम क्षेत्र था। जेम्स रेनेल अठारहवीं सदी की स्थिति का बड़ा सटीक वर्णन करते हैं

विदेशी शत्रुओं के किसी सम्भावित आक्रमण के लिहाज़ से बंगाल की प्राकृतिक परिस्थिति बेहद सुरक्षित कही जा सकती है। उत्तर और पूर्व में वह लड़ाकू पड़ोसियों की समस्या से मुक्त है तो उसके पास पहाडियों, नदियों और निर्जन भूमि की एक अभेद्य शृंखला भी है जो उसे किसी भी आपात स्थिति से बचा सकती है। दक्षिण में तीन सौ मील का विशाल तटीय क्षेत्र है जो उथले और अभेद्य वनों से घिरा है। यहाँ केवल एक बंदरगाह है और वह भी बेहद दुर्गम है। बंगाल का पश्चिमी तट ही एकमात्र ऐसा क्षेत्र है जहाँ शत्रु का भय हो सकता है परंतु वहाँ भी प्राकृतिक अवरोध काफ़ी मजबूत है।[23]

विदेशी शत्रुओं के किसी सम्भावित आक्रमण के लिहाज़ से बंगाल की प्राकृतिक परिस्थिति बेहद सुरक्षित कही जा सकती है। उत्तर और पूर्व में वह लड़ाकू पड़ोसियों की समस्या से मुक्त है तो उसके पास पहाड़ियों, नदियों और निर्जन भूमि की एक अभेद्य शृंखला भी है जो उसे किसी भी आपात स्थिति से बचा सकती है।

अट्ठारहवीं सदी के प्रारम्भिक काल में राजमहल की पहाड़ियाँ बेहद दुर्गम मानी जाती थीं। तथा तेलीगढ़ी के दर्रे की रक्षा का समुचित प्रबंध करके बंगाल को पूरी तरह महफ़ूज किया जा सकता था।[24]

बंगाल का एक केंद्रीय क्षेत्र के रूप में प्रतिष्ठित होना पिछले दो सौ वर्षों की उपज है। इसका संबंध अंग्रेज़ों के उस पुनर्व्यवस्थापन से भी है जिसके अंतर्गत सत्ता और प्रभाव का रुख मैदानी क्षेत्रों से मोड़कर देश के तटीय क्षेत्र की

---

[22] के.ए. नीलकंठ शास्त्री (1955), *अ हिस्ट्री ऑफ़ साउथ इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड : 35.

[23] जेम्स रेनेल (1793), *अ मेमोअर ऑफ़ अ मैप ऑफ़ हिंदुस्तान ऑर द मुगल एम्पायर,* तीसरा संस्करण, लंदन : 115.

[24] *इम्पीरिअल गजेटियर ऑफ़ इण्डिया* (1900)(नया संस्करण), ऑक्सफ़र्ड, खण्ड 23 : 275; जे.ज़ैड. हॉलवैल (1776), *इंटरेस्टिंग हिस्टोरिकल इवेंट्स रिलेटिंग टू द प्रॉविंस ऑफ़ बंगाल,* भाग 1 (दूसरा संस्करण), लंदन : 137-42; के.के. दत्त (1939), *अलीवर्दी ऐंड हिज़ टाइम्स,* कलकत्ता : 24-5.

ओर कर दिया गया था और जिसके परिणामस्वरूप मद्रास, बम्बई तथा कलकत्ता जैसे बंदरगाह व्यावसायिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक केंद्र बन कर उभरे थे। आगे इस लेख में मैं यह चर्चा करूँगा कि क्षेत्रों, क्षेत्रीय संस्कृति तथा क्षेत्रीयता की प्रकृति और संकल्पना पर ब्रिटिश शासन तथा आधुनिकीकरण का क्या प्रभाव पड़ा है।

ऐतिहासिक क्षेत्रों के इस मंथन का निचोड़ करते समय लेख के बुनियादी प्रस्तावों पर दुबारा नजर डालना ज़रूरी है। हमने जिन क्षेत्रों को ऐतिहासिक क्षेत्रों की श्रेणी में अपेक्षाकृत स्थायी क्षेत्र माना है, समय के साथ उनकी प्रकृति बदलती रही है। परिस्थितियों के दबाव में कई बार किसी क्षेत्र की सीमाएँ, प्रकृति और संकल्पना बहुत तेज़ी से बदल जाती है। हाल के वर्षों में छोटानागपुर और छत्तीसगढ के क्षेत्र इसी बात का दृष्टांत पेश करते हैं। कभी इन क्षेत्रों को दूरस्थ, दुर्गम और आर्थिक दृष्टि से बेकार माना जाता था और उनके बारे में आम राय यह थी कि वहाँ केवल झूम खेती करने वाले, बहेलिये और भोजन बटोरने वाले लोग ही रहते हैं। आज अयस्कों के कारण ये दोनों ही क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो चुके हैं और भारत के दो अत्याधुनिक और महाकाय औद्योगिक क्षेत्रों में शुमार किये जाते हैं।

सांस्कृतिक क्षेत्र के निर्धारण की समस्याएँ

मानवशास्त्री और सांस्कृतिक वैज्ञानिक पिछले चार दशकों से सांस्कृतिक क्षेत्र के निर्धारण की समस्याओं से जूझते आ रहे हैं। सांस्कृतिक क्षेत्र के निर्धारण की यह समस्या मुख्यत: संग्रहालयों में प्रदर्शित भौतिक चीज़ों को उनके सांस्कृतिक संदर्भ में रखने की ज़रूरत से पैदा हुई है। सांस्कृतिक क्षेत्रों के वर्गीकरण के इन प्रयासों से ही उस पद्धतिमूलक और सैद्धांतिक दृष्टि का विकास हुआ है जो लिखित साक्ष्यों की परम्परा से रहित समाजों और संस्कृतियों के अध्ययन का प्रयत्न करती है। यह दृष्टि एकल लक्षणों (भौतिक संस्कृति की कुछ विशेष चीज़ों या रीतियों, मसलन कुदाली और क्रॉस कजिन मैरिज), तथा लक्षणों के समुच्चय (मैदानी क्षेत्र में रहने वाले इण्डियंस के सूर्य-नृत्य) के तुलनात्मक अध्ययन का उपयोग करती है। उत्तरी अमेरिका[25] तथा अफ्रीका[26] में सांस्कृतिक क्षेत्रों के निर्धारण का कार्य बहुत सलीक़े से किया गया था और इस पर बहुत सारा समय और ऊर्जा लगाई गयी थी।

उन्नीसवीं सदी के मध्य में जब भारतीय समाज और संस्कृति के बारे में व्यवस्थित लेखन की शुरुआत हो रही थी तब भी यह बात स्वीकार की गयी थी कि भारतीय उपमहाद्वीप में संस्कृति के भिन्न-भिन्न रूप मौजूद हैं। माउंट स्टुअर्ट एलफ़िंसटन अपनी पुस्तक *हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया : द हिंदू ऐंड मोहम्मडन पीरिअड्स* में भारत में सांस्कृतिक भिन्नताओं के तत्कालीन विमर्श को पेश करते हुए लिखते हैं कि भारत में दसियों अलग अलग तरह के देश हैं... इन देशों के तौर-तरीक़े और भाषा यूरोपीय देशों की ही तरह एक दूसरे से अलहदा हैं। यह अचरज की बात नहीं है कि इन दस देशों की भिन्नताओं का आधार पंजाब, कन्नौज, मिथिला, बंगाल, गुजरात तथा दक्कन, तमिल, तेलुगु, कनारी और ओडीशा तथा महाराष्ट्र में बोली जाने वाली भाषाओं को बनाया गया है।[28] अपने दौर में सांस्कृतिक वर्गीकरण के प्रचलित ढर्रे को देखते हुए एलफ़िंसटन इन क्षेत्रों

---

[25] ए.एल. क्रोबर (1947), *कल्चरल ऐंड नेचुरल एरियाज़ ऑफ़ नेटिव नॉर्थ अमेरिका*, बर्कले, ; हैरल्ड ड्राइवर (1961), इण्डियंस ऑफ़ अमेरिका, शिकागो; क्लार्क विसलर (1920), द *रिलेशन ऑफ़ मैन टू नेचर इन एबोरिजनल अमेरिका*, न्यूयॉर्क, 1920.

[26] एम.जे. हर्सकोविट्स (1930), 'कल्चर ऐरियाज ऑफ़ अफ्रीका', *अफ़्रीका*, खण्ड 3 : 59-77.

[27] चौथा संस्करण, 1857 : 169.

[28] वही : 146-7.

के सांस्कृतिक वर्गीकरण का प्रयास नहीं करते। इसलिए वे जिन भिन्नताओं की बात करते हैं, उनका संबंध दरअसल उत्तर और दक्षिण से है : .... धार्मिक पंथ अलग हैं; उनका स्थापत्य एक दूसरे से भिन्न है। कई मायनों में पहनावा भी अलग है, लोगों की शक्ल-सूरत में भी भिन्नता है.... उत्तर भारतीय लोग मुख्यतः गेहूँ ज़्यादा खाते हैं जब कि दक्षिण भारतीय रागी का इस्तेमाल ज़्यादा करते हैं।[29] एलफ़िंसटन हिंदुस्तानियों को बंगालियों से अलग मानते हैं और इसके पीछे भौगोलिक कारकों की दलील देते हैं: बंगाल की जलवायु आर्द्र है और वहाँ बाढ़ आती रहती है। उसकी मिट्टी जलोढ़ है; जबकि हिंदुस्तान का क्षेत्र उपजाऊ तो है पर उसकी जलवायु और मिट्टी अपेक्षाकृत शुष्क है। जिससे लोगों में अलग अलग तरह की आदतें और भिन्नताएँ पैदा हो गयी हैं।[30]

एलफ़िंसटन ने एक तरह से भाषा, धार्मिक पंथों के भेदों, स्थापत्य (आवास के प्रकार), शारीरिक बनावट (नस्ल) जीवन निर्वाह का आधार (गेहूँ बनाम रागी), जलवायु तथा भूगोल जैसी उन तमाम कसौटियों का उल्लेख किया है जिनका सांस्कृतिक क्षेत्रों के निर्धारण में इस्तेमाल किया जाता रहा है।

बाद में उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी के दौरान जब नस्ल के वर्गीकरण को संदिग्ध नज़र से देखा जाने लगा तो लोगों की रुचि सांस्कृतिक-क्षेत्रीय वर्गीकरण में ख़त्म होने लगी। 1901 तथा 1931 की जनगणना और बाद में उसके प्रकाशन से भारत में शारीरिक बनावट के प्रचुर आँकड़े सामने आये। अपने समय के प्रसिद्ध प्रशासक और भारत में मानवशास्त्रीय अध्ययन के प्रमुख सूत्रधारों में से एक एच.एच. रिजले को 1901 की जनगणना के दौरान शारीरिक बनावट के संबंध में सबसे अहम नस्ली-भाषाई वर्गीकरण करने का श्रेय जाता है। नस्ली वर्गीकरण के प्रचलित मानकों के कारण वर्गीकरण के निर्धारण में रेसियल-भाषाई तथा सांस्कृतिक कसौटी का घालमेल सा हो गया था। रिजले का मानना था कि किसी क्षेत्र विशेष के लोगों को उनके सिर तथा नाक की बनावट के आधार पर निश्चित समूहों में बाँटा जा सकता है। रिजले ने नस्ल के इन प्रकारों को तुर्क-ईरानी, भारोपीय तथा आर्य-द्रविड़ जैसे शीर्षक दिये जो मूलतः भाषिक पद थे।[31] रिजले केवल संस्कृति के संबंध में ही नस्ल का वर्गीकरण नहीं करना चाहते थे बल्कि वे भारत के एक नस्ली इतिहास की तरफ़ डगमग कर रहे थे। 1931 की जनगणना में नस्ली और सांस्कृतिक इतिहास का यह सरोकार जे.एच. हटन और भारत के विख्यात भौतिक मानवशास्त्री बी.एस.गुहा के नेतृत्व में अपने चरम पर पहुँच जाता है। डी.एन. मजूमदार के शोध में यह सरोकार एक स्थायी विषय के रूप में मौजूद रहा है।[32]

गुहा और मजूमदार शारीरिक बनावट से सम्बंधित आँकड़ों या रक्त के नमूनों के आधार पर भारत के सांस्कृतिक इतिहास में दीर्घ अवधि के आशय खोजना चाहते थे। नेग्रिटो जाति को , जिसका भारत की आदिवासी आबादी में एक बहुत ही न्यून अंश मिलता है, भारत के नृजाति इतिहास में सबसे प्राचीन माना जाता है। पारम्परिक दृष्टिकोण के तहत यह माना जाता है कि नेग्रिटो का सफ़ाया ऑस्ट्रेलिया के वर्तमान बहुसंख्य मूल निवासियों- ऑस्ट्रेलॉइड ने किया

---

[29] वही : 169.

[30] वही : 170.

[31] एच.एच. रिज़ले (1901/1903), 'एथनोग्राफ़िक एपेंडिसिज़', *सेंसस ऑफ़ इण्डिया,* खण्ड 1, और द *पीपुल्स ऑफ़ इण्डिया* (1951), दूसरा संस्करण, कलकत्ता और लंदन : 1-61.

[32] बी.एस. गुहा (1931/1935), 'रेसिअल एफ़िनिटीज़ ऑफ़ द पीपुल्स ऑफ़ इण्डिया', *सेंसस ऑफ़ इण्डिया,* खण्ड 1; बी.एस. गुहा (1944), 'रेसिअल ऐलीमेंट्स इन द पॉप्युलेशन', (ऑक्सफ़र्ड पैम्फ़्लेट्स ऑन इण्डिया अफ़ेयर्स, संख्या 22; डी.एन. मजूमदार (1961), रेसिज़ ऐंड कल्चर्स ऑफ़ इण्डिया, न्यूयॉर्क, चौथा संस्करण) : 120.

था। लेकिन भारत के भौतिक मानवशास्त्री जब इस आधार पर भारतीय सामाजिक समूहों की सभ्यता का इतिहास लिखना चाहते हैं तो दरअसल वे भाषाई इतिहास के जाने-पहचाने तथ्यों को ही प्रति-ध्वनित कर रहे होते हैं।

एक तरह से यह अस्वाभाविक नहीं है कि भौतिक मानवशास्त्री भारत में उत्तर और दक्षिण के लोगों की भिन्नता को नस्ल के नज़रिये से देखने का आग्रह करते हैं। परंतु भारत में ख़ून के ए और बी प्रकारों की बारम्बारता नापने के लिए जितने भी नमूनों की जाँच की गयी है उनसे उपरोक्त नज़रिये पर कोई ख़ास रोशनी नहीं पड़ती। भारत में रक्त समूह से संबंधित आँकड़ों में प्रतिशत का उतार-चढ़ाव यह इंगित करता है कि यहाँ विभिन्न जातीय और सांस्कृतिक समूहों के बीच बड़े पैमाने पर सम्मिश्रण हुआ है।[33]

यह बात बेखटके कही जा सकती है कि संस्कृति, नस्ल को परिभाषित करने की वैज्ञानिक कसौटी तथा इतिहास के बीच पाँच दशकों से चले आ रहे निरंतर संवाद के बावजूद भारत में क्षेत्रवाद की समझदारी में कोई ख़ास इजाफ़ा नहीं हुआ है। इस मायने में इन स्वंय सिद्ध सुझावों का कोई मतलब नहीं है कि भारत की आबादी में मूल निवासी या आदिवासी अन्य समूहों की तुलना में एक अलग जातीय तत्त्व प्रदर्शित करते हैं। इस तरह की घोषणाओं से हमें संस्कृति के बारे कुछ ख़ास पता नहीं चलता।

हाल के वर्षों में भारत में सांस्कृतिक क्षेत्रों के विकास से संबंधित मानवशास्त्रीय सरोकारों को पुनर्जीवित करने की कई कोशिशें सामने आई हैं। इस संदर्भ में भारत सरकार के मानवशास्त्र विभाग द्वारा सुरजीत सिन्हा तथा एन.के. बोस के नेतृत्व में किया गया भौतिक संस्कृति का सर्वेक्षण सबसे व्यापक और व्यवस्थित माना जाता है।[34] सर्वेक्षण का उद्देश्य भौतिक लक्षणों के उन परिक्षेत्र तथा उप-परिक्षेत्र के मानचित्र तैयार करना था जो इतिहास की दीर्घ अवधियों में निरंतर विद्यमान रहे हैं। इससे भारत के सांस्कृतिक क्षेत्रों के संबंध में, मौटे तौर पर एक तुलनात्मक तस्वीर खींची जा सकेगी और भविष्य में सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के विस्तृत अध्ययन की पृष्ठभूमि तैयार की जा सकेगी।[35] इस सर्वेक्षण में देश के हर ज़िले से आँकड़े इकट्ठे करके उन्हें भौतिक संस्कृति के विभिन्न मदों जैसे गाँव में बसावट के पैटर्न, कुटियाओं के प्रकार, मुख्य भोजन, वसा और तेल, तिलहन, हलों, छाल प्रयोग करने के विभिन्न प्रकार, पुरुषों और स्त्रियों का पहनावा, जूतों तथा बैलगाड़ियों आदि पर प्रक्षेपित किया गया था।

अध्ययन के परिचय खण्ड में एन.के. बोस इन ग्यारह अलग अलग लक्षणों को उत्तर और दक्षिण के बेहद व्यापक पैटर्न में रखकर देखते हैं। ये लक्षण महाराष्ट्र से बिहार तथा कुछ मामलों में बंगाल और ओडीशा के एक विस्तृत भूभाग में परस्पर-व्यापी पाये गये हैं। लेकिन अगर उन मानचित्रों पर नज़र दौड़ाई जाए जिन पर इन आँकड़ों को प्रक्षेपित किया गया है तो उपमहाद्वीप को पूर्व-पश्चिम में बाँटकर देखने का तर्क भी इतना ही दमदार लगेगा। नीचे दी गयी सूची से पता चलता है कि इस अध्ययन में प्रयुक्त मानचित्रों के आधार पर सामान्यीकरण करना कितना मुश्किल काम है।

1. गाँवों के अभिरूप— गाँवों के तीन क्षेत्र हैं। पहले क्षेत्र में उत्तर प्रदेश का अधिकांश हिस्सा, बिहार, मध्य प्रदेश, पंजाब और राजस्थान शामिल हैं। मानचित्र में उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की ओर जाती एक रेखा दर्शायी गयी है जो महाराष्ट्र के मध्य से शुरू होकर असम की ओर इंगित करती है। दूसरे क्षेत्र में बंगाल का अधिकांश हिस्सा, समूचा ओडीशा, मध्य प्रदेश के कुछ भाग,

---

[33] वही : 105.

[34] 'पेजेंट लाइफ़ इन इण्डिया : अ स्टडी इन इण्डियन यूनिटी ऐंड डायवर्सिटी', *मेमॉयर,* संख्या 8, एंथ्रोपॉलोजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, 1961.

[35] वही : 58.

अधिकांश आंध्र पद्रेश तथा मैसूर का कुछ भाग शामिल है। तीसरा प्रमुख क्षेत्र वह है जिसमें तमिलनाडु तथा शेष मैसूर शामिल है। यह तीसरा क्षेत्र पूर्व-पश्चिम की दिशा में बाँटा गया है।

2. कुटिया के प्रकार : छत और फ़र्श— कुटिया की बनावट के मामले में पूरे भारत में समान योजना दिखाई देती है। समानता का यह क्षेत्र उत्तर-पश्चिम में राजस्थान, महाराष्ट्र से गुजरता हुआ तमिलनाडु तथा दक्षिण आंध्र तक फैला है। इस क्षेत्र को पूर्व-पश्चिम की दिशा में विभाजित किया गया है।

3. कुटिया के प्रकार— दालान तथा बैठक— कुटिया के प्रकार की दृष्टि से तीन क्षेत्रों— उत्तरी, मध्यवर्ती तथा दक्षिणी की स्पष्ट पहचान की जा सकती है।

4. कुटिया के प्रकार— दालान का वितरण— दालानों का वितरण पूरी तरह मिला जुला है।

5. मुख्य भोजन— भोजन की दृष्टि से मुख्यतः चार क्षेत्र हैं। पूर्वी: चावल- बंगाल, बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश, ओडीशा, उत्तरी आंध्र; मध्य और उत्तरी: गेहूँ उत्तर प्रदेश का अधिकांश भाग, पंजाब, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र का अधिकांश भाग; बाजरे और चावल का मिश्रित क्षेत्र- तमिल और तेलुगु भाषी इलाक़े। पश्चिमी तट पर स्थित चावल के एक तटीय क्षेत्र को चावल प्रधान पूर्वी क्षेत्र जैसा ही है। यह विभाजन पूर्व से पश्चिम की ओर धुँधला होता गया है।

6. वसा और तेल— वसा और तेल के प्रयोग के आधार पर उत्तर और दक्षिण का स्थूल विभाजन किया जा सकता है।

7. तिलहन— तिलहन के वितरण को पूर्व-पश्चिम के क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है।

8. हलों के प्रकार— हलों का विभाजन मौटे तौर पर उत्तर से दक्षिण की तरफ़ है। लेकिन उसका एक छोर नेपाल की सीमा तक चला गया है। बिहार और बंगाल के कुछ भागों से प्राप्त हलों का प्रकार प्रायद्वीपीय है।

9. छाल संबंधी उपकरण— इनका विभाजन पूर्व से पश्चिम की ओर है।

10. पुरुषों का पहनावा, अधोवस्त्र उपमहाद्वीप के अधिकांश भाग में पुरुषों का पहनावा एक जैसा है परंतु दक्षिणी छोर, पंजाब तथा राजस्थान व गुजरात के कुछ भागों में भिन्नता दिखाई पड़ती है।

11. स्त्रियों का पहनावा : सिले हुए वस्त्र और ओढ़नी की दृष्टि से केरल के अपवाद को छोड़कर देश के अधिकांश भाग में एक जैसी स्थिति है। बम्बई के उत्तर से दिल्ली तक का क्षेत्र एक समान है और बाक़ी क्षेत्र मिश्रित कहा जा सकता है। इस तरह स्त्रियों का पहनावा पूर्व से पश्चिम की ओर विभाजित है।

12. जूते: काष्ठ के अलावा अन्य किसी चीज़ से निर्मित सैंडल जूतों की दृष्टि में देश में तीन स्पष्ट क्षेत्र- उत्तरी, मध्यवर्ती तथा दक्षिणी, दिखाई पड़ते हैं।

13. बैलगाड़ी : पहिए के रूप का विभाजन उत्तर से दक्षिण की तरफ़ है। लेकिन पूर्वी क्षेत्र को छोड़कर विभाजन की रेखाएँ मध्यवर्ती पहाड़ी क्षेत्र से उत्तर की ओर ज़्यादा झुकी हैं।

14. बैलगाड़ी: पहिए का आकारमिश्रित वितरण। अब यहाँ मैं चौदह मानचित्रों पर दर्शाए गये वितरण का वर्गीकरण विभाजन की मुख्य दिशाओं के आधार पर करूँगा : पूर्व-पश्चिम (6) मानचित्र संख्या 1, 2, 5, 7, 9, 11उत्तर-दक्षिण (5) मानचित्र संख्या 3, 6, 8, 12, 13मिश्रित (3) मानचित्र संख्या 4, 10, 14

लक्षणों के वितरण को देखते हुए बोस का एक अन्य निष्कर्ष भी सटीक बैठता है। सांस्कृतिक क्षेत्रों या उप-क्षेत्रों की सीमाएँ ग्रियर्सन द्वारा भाषाई परिवार यथा भारोपीय तथा द्रविड़ या इन परिवारों की किसी शाखा के संबंध में सुझाई गयी सीमाओं से मेल नहीं खाती।[36] बोस और

[36] वही, प्राक्कथन.

सिन्हा के अध्ययन की समस्या यह है कि उन्होंने सांस्कृतिक क्षेत्रों को प्रदत्त मान लिया है जबकि भौतिक लक्षणों या अवशेषों के आँकड़ों से उनकी यह संकल्पना सिद्ध नहीं होती।

पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण तथा क्षेत्रीयता

अवधारणा के स्तर पर जनपद और जनपदीयता के बीच एक स्पष्ट अंतर है। पर कई दफ़ा इस अंतर को भुला दिया जाता है। एक अवधारणा के तौर पर क्षेत्र अपनी समस्त जटिलताओं के साथ आँकड़ों की विभिन्न क़िस्मों के वर्गीकरण का ज़रिया मुहैया कराता है। इससे विशिष्ट या सामान्य स्थितियों के विश्लेषण में मदद मिलती है। क्षेत्रवाद किसी भौगोलिक सीमा के भीतर प्रतीकों, व्यवहारों तथा आंदोलनों के बाहरी या अंदरूनी विकास की ओर इंगित करता है जिनके आधार पर कोई समूह राजनीतिक, आर्थिक या सांस्कृतिक दृष्टि से किसी दूसरे भौगोलिक क्षेत्र के समूहों से अलग दिखाई देता है या सचेत रूप से अलग दिखाना चाहता है। क्षेत्र विश्लेषण के एक रूप की ओर इशारा करता है जबकि क्षेत्रवाद में एक आह्वान का भाव निहित है। भूगोलवेत्ता वी.एल.एस प्रकाश राव क्षेत्रवाद को एक चक्रीय परिघटना बताते हैं।

उनके अनुसार क्षेत्रवाद का चक्र कविता और भाषा के पुनरुत्थान से शुरू होता है और खेती व उद्योग की क्षेत्रीय व्यवस्था के उन्नयन की आर्थिक योजनाओं व राजनीति में स्वायता की आश्वस्ति पर ख़त्म होता है। राव के मुताबिक़ युरोप के विभिन्न देशों में क्षेत्रवाद के अलग-अलग लक्ष्य थे। फ्रांस में क्षेत्रवाद एक प्रतिरोध की तरह उभरा जो संस्कृति के पेरिस में केंद्रित हो जाने का विरोध करता था। फ्रांसीसी क्षेत्रवाद का यह आंदोलन संस्कृति और स्थानीय प्रतिभा के मुक्त विकास की पैरोकारी करता था। जर्मनी में वह राज्य की पुरानी सीमाओं के पुनर्गठन की माँग के रूप में उभरा। इंग्लैंड में क्षेत्रवाद का मतलब प्रशासनिक विकेंद्रीकरण तथा स्थानीय सरकार की एक नयी रूपरेखा से है। डेनमार्क में क्षेत्रवाद लोककलाओं के पुनरोद्धार तथा वैज्ञानिक खेती के मिश्रित रूप में प्रकट हुआ।[37] भारत में क्षेत्रवाद का चक्र आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण के साथ शुरू होता है।

भारत में जनपदीयता की कुछ संरचनात्मक और सांस्कृतिक पूर्व-अपेक्षाएँ

जनपदीयता एक सांस्कृतिक परिघटना है किंतु न उसका घटना अनिर्वाय होता है और न ही उसे किसी संयोग का परिणाम कहा जा सकता है। उसका जन्म कुछ ख़ास तरह की परिस्थितियों में ही होता है। यहाँ हम ऐसी ही कुछ परिस्थितियों या पूर्व-अपेक्षाओं का एक शुरुआती जायज़ा लेने का प्रयास कर रहे हैं।

1. प्रतीकों की निधि

जनपदीयता के विकास की पहली शर्त यह होती है कि उसके पास प्रतीकों का एक ऐसा स्रोत मौजूद होना चाहिए जिसके इर्द-गिर्द उस क्षेत्र विशेष की इयत्ता के विचार को संगठित किया जा सके। भारत के संदर्भ में यह उत्स धार्मिक और/ या साहित्यिक और/ या राजनीतिक-ऐतिहासिक प्रतीकों से निर्मित हुआ है। ऐसे प्रतीक भाषाई पदों में विन्यस्त पाये जा सकते हैं। यानी इन प्रतीकों की वाहक किसी क्षेत्र विशेष की भाषा भी हो सकती है। बहुत से लोग तो इन प्रतीकों को ही जनपदीय आंदोलनों की ऊर्जा का स्रोत मानते हैं। लेकिन जब हम इस भाषागत तादात्म्य की पड़ताल करते हैं और जनपदीय पहचान में निहित ख़ास प्रतीकों की अंतर्वस्तु पर नज़र डालते हैं तो यह स्पष्ट होने लगता है कि असल में हम स्वयं भाषा की नहीं बल्कि साहित्य, धर्म, और राजनीतिक इतिहास की बात

[37] वी.एल.एस. प्रकाश राव : 5.

कर रहे होते हैं।

तमिलों की बात करें तो तमिलनाडु में प्रतीकों का एक ऐसा सुविकसित पदानुक्रम नज़र आता है जो उसे दक्षिण भारत के अन्य क्षेत्रों (मैक्रो क्षेत्र) से एक नितांत पृथक चरित्र प्रदान करता है।

तमिल विद्वान भौतिक लक्षणों की दृष्टि से अपने क्षेत्र को पाँच प्राकृतिक भागों में बाँटकर देखते थे। कवि की कल्पना में घुलकर ऐसे विचार उसके दैनिक जीवन का अंग भी बन जाते थे। यही विचार लोगों के आचार-व्यवहार और मान्यताओं में समा जाते थे। समय के साथ इन भू-भागों तथा उनसे जुड़ी विशेषताएँ रूढिबद्ध हो गयीं। कवि अपनी रचना में जब किसी क्षेत्र विशेष का वर्णन करता था तो उसके विचार हमेशा उस क्षेत्र में रहने वाले सम्प्रदाय विशेष, उस भू-भाग के फल-फूलों, गीतों, मनोरंजन, त्योहार, भोजन, वेशभूषा, वाद्य यत्रों और मूल्य-मान्यताओं से प्रतिकृत होकर ही सामने आते थे.... प्राचीन विद्वान इन क्षेत्रों का नामकरण ऐसे फूल या पौधे के नाम पर करते थे जो वहाँ बहुतायत में पाया जाता था।[38]

तमिलनाडु में अंदरूनी राजनीतिक सीमाएँ कभी स्थिर नहीं हो पायी। सच यह है कि अंदरूनी क्षेत्रों का विशिष्ट और स्थिर समुच्चय सामान्य जन के साहित्य और पवित्र भूगोल में जाकर फलीभूत हुआ।

छठी शताब्दी के प्रारम्भ में शैव और वैष्णव परम्परा का पुनरुत्थान हुआ। उसके बाद तीन शताब्दियों के दौरान देश में संतों के अभ्युदय के फलस्वरूप जहाँ इन दोनों धर्मों का पुनरोद्धार हुआ वहीं बौद्ध तथा जैन धर्म का प्रभाव क्षीण पड़ता गया। चार समादृत शैव संतों तथा बारह आलवरों ने क्षेत्र में घूम-घूम कर जन-मानस को धार्मिक उत्साह से भर दिया। भ्रमण के दौरान उन्होंने बहुत सारे मंदिरों के दर्शन किये और उनकी स्तुति में पदों की रचना की। भ्रमण और पद-रचना के इस उपक्रम में उन्होंने क्षेत्र के भू-भागों का भी उल्लेख किया। उनके बाद के संतों और कवियों के हाथों यह विचार और विकसित हुआ। अन्य संतों और कवियों ने पूर्वोक्त मंदिरों का वर्णन करने के साथ ही समूचे क्षेत्र का धार्मिक आधार पर कई प्रकार के भू-भागों में सीमांकन भी कर डाला। लोगों में यह क्षेत्रीय विभाजन ख़ासा प्रचलित था।[39]

इस वर्णन से प्रतीत होता है कि जैसे तमिलनाडु में साहित्यिक-धार्मिक प्रतीकों की यह क्षेत्रीय थाती पूरे भारत में सबसे व्यापक और विस्तृत रही थी।

महाराष्ट्र एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ पिछले सात दशकों के दौरान यह दावा लगातार पेश किया जाता रहा है कि उसकी ऐतिहासिक-राजनीतिक परम्परा कई सौ वर्ष पुरानी है। मराठा या भारतीय इतिहासकार केवल महाराष्ट्र की इस ऐतिहासिक-राजनीतिक परम्परा की ही बात नहीं करते बल्कि इस परम्परा को शिवाजी के शासन काल – सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर उन्नीसवीं सदी के शुरुआती दौर के बीच मराठा राज्य और राष्ट्र के पर्याय के रूप में भी देखने का आग्रह करते हैं। यह आग्रह भारतीय इतिहासकारों के बजाय मराठी इतिहासकारों में ज़्यादा प्रबल रहा है।

एक विशिष्ट मराठा राष्ट्र का तर्क सबसे पहले महाराष्ट्र के महान समाज सुधारक महादेव गोविंद राणाडे ने अपनी पुस्तक *राइज ऑफ़ मराठा* में प्रस्तुत किया था। 1900 में प्रकाशित इस किताब में राणाडे का प्रतिपादन यह था कि मराठा राज्य शिवाजी की मेधा और मराठा लुटेरों की योग्यताओं का समुच्चय भर नहीं था।

(अट्ठारहवीं शताब्दी के मराठा राज्य और राज्यसंघ) की नींव जन-मानस में बहुत गहरे रख दी गयी थी। बंगाल, कर्नाटिक, अवध तथा

[38] सी.एम. रामचंद्र चेट्टियार (1941), 'जिओग्राफ़िकल डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ़ रिलीजस प्लेसेज़ इन तमिलनाडु', *द इण्डियन जिओग्रॅफ़ीकल जर्नल,* खण्ड 26 : 42-50.

[39] वही. पृ. 43.

हैदराबाद की सूबेदारी के उलट मराठा सत्ता एक तरह से राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया से उद्भूत हुई थी। उसे केवल एक पराक्रमी व्यक्ति के सफल उद्यम का नतीजा नहीं कहा जा सकता। वह एक समूची जनता का आलोड़न था जिसमें भाषा के सामूहिक सूत्रों से उपजी निकटता, जातीयता, धर्म, साहित्य तथा स्वतंत्र राजनीतिक अस्मिता से प्रेरित साझी एकता जैसे तत्त्व एकमेक थे... यह एक ऐसा राष्ट्रीय आंदोलन अथवा आलोड़न था जिसमें सभी वर्गों ने सहयोग किया था। इस लामबंदी की ऊर्जा उच्च वर्गों के तात्कालिक उत्थान से निर्धारित न होकर विशाल ग्रामीण जनता के हृदय में स्थित थी। ग्वाले हों या गड़ेरिये; ब्राह्मण हों या गैर-ब्राह्मण, यहाँ तक कि मुसलमानों पर भी एकता की इस भावना का प्रभाव पड़ा था और वे भी उसकी ताकत का असर महसूस करते थे।[40]

राणाडे तथा अन्य परवर्ती इतिहासकारों ने मराठी जनता की एकता को धार्मिक विचारधारा और भंगिमा का परिणाम बताकर पंद्रहवीं और सोलहवीं सदी के भक्ति आंदोलनों को ज़रूरत से ज़्यादा श्रेय दिया है। यह धार्मिक पुनरोदय ब्राह्मणवादी रूढ़ियों से ग्रस्त नहीं था। वस्तुत: यह एक शास्त्र और परम्परा विरोधी आंदोलन था जो जन्म पर आधारित कर्मकांडों और वर्गीय भेदों का प्रतिवाद करता था तथा अन्य गुणों या सत्कर्मों की बनिस्बत निश्छल हृदय और प्रेम की भावना को तरजीह देता था।[41]

इन्हीं धार्मिक मूल्यों की अभिव्यक्ति मराठी जनसमुदाय की वाचिक और लिखित परम्परा में हुई।

देवगिरी के यादवों के पराभव के बाद मराठी साहित्य की विशाल राशि में यह विद्रोही चेतना तीन-चार सौ वर्षों तक निरंतर विद्यमान रही। मुकुंदराज और ज्ञानेश्वर तथा तुकाराम व रामदास के बाद मराठी साहित्य का समूचा कलेवर इसी लोक-मानस का प्रदर्शन करता है.... मराठा संतों व सिद्ध पुरुषों के प्रवचनों और हरिकीर्तनों को जनता बड़े ध्यान से सुनती थी। शिवाजी जैसे लोगों को उनके राजनीतिक लक्ष्यों के लिए एक आध्यात्मिक पूर्व-पीठिका इसी परम्परा से मिली।[42] बंगाली इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार भी मराठा राज्यों के विचार में धार्मिक- साहित्यिक आंदोलनों की भूमिका को निर्णायक मानते थे। उनके लेखन में मराठा जनता इंग्लैंड के उस सीधे-साधे प्यूरिटन वर्ग का भारतीय संस्करण नज़र आती है जिसके पास अपनी अभिव्यक्ति को परिष्कृत करने का अवकाश नहीं था। उनका काव्य छोटे पदों और सूत्रों अथवा महाकाव्यों सरीखे मात्रिक छंदों से निर्मित हुआ था जिसमें किसी प्रगीतात्मक आवेग, सुदीर्घ मधुर पदावली या ध्वनियों के विराट कोमल सुरों से खेलने की कोई चाह नहीं थी।[43]

महाराष्ट्र में इतिहासकारों के एक प्रतिष्ठित समूह ने मराठा इतिहास की व्यवस्थित और बारीक़ पड़ताल की है और मराठा राष्ट्रतत्व के प्रति अपनी समस्त प्रतिबद्धता का निर्वाह करने के बावजूद ये इतिहासकार इतिहास लेखन के क्षेत्र में एक अलग परम्परा क़ायम करने में सफल रहे हैं। इरावती कर्वे जैसी मराठी मानवशास्त्री भी मराठी संस्कृति को एक वस्तुनिष्ठ यथार्थ के रूप में देखने का आग्रह रखती हैं। महाराष्ट्र के इस वस्तुनिष्ठ या आनुभविक यथार्थ को सांस्कृतिक क्षेत्र का समानार्थी मानते हुए कर्वे यह सिद्धांत प्रतिपादित करती हैं कि भारत में इस तरह के अन्य सांस्कृतिक क्षेत्र भी मौजूद रहे हैं :

भारत के अलग अलग हिस्सों में दस वर्षों तक फ़ील्ड वर्क करने के बाद हम यह बात पूरी बेबाकी से कह सकते हैं कि भारत में भाषाई क्षेत्र सांस्कृतिक समानता का भी क्षेत्र होता है। जिसके

---

[40] महादेव गोविंद राणाडे (1990), *द राइज़ ऑफ़ द मराठा पॉवर,* बम्बई : 3.

[41] वही : 10.

[42] गोविंद एस. सरदेसाइ (1946/1957), *न्यू हिस्ट्री ऑफ़ द मराठाज़,* खण्ड 1, बम्बई : 37-38.

[43] जदुनाथ सरकार (1929), *शिवाजी ऐंड हिज़ टाइम्स,* तीसरा संस्करण, कलकत्ता : 11.

मुख्य लक्षण को इस तरह व्यक्त किया जा सकता है, (1) वह एक ऐसा सहवर्ती भू-भाग होता है जहाँ एक निश्चित भाषा और उसकी बोलियों का प्रयोग किया जाता है। लेकिन यहाँ केवल भाषा का साझापन ही इस क्षेत्र को अन्य क्षेत्रों से अलग नहीं करता है। इसके उलट, भाषा का यह साझापन सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं में व्याप्त रहने वाले सांस्कृतिक संश्लेषण का एक बाहरी और दूर से नज़र आने वाला एक प्रतीक मात्र होता है। ऐसे किसी क्षेत्र में (2) विवाह, नातेदारी की व्यवस्था तथा पारिवारिक संगठन आदि के लिए एक जैसे पदों का इस्तेमाल किया जाता है। (3) लोगों की वेशभूषा, बर्तनों तथा खाना बनाने के तरीक़ों में भी समरूपता होती है। (4) उनके आराध्य संत और गीत; यहाँ तक कि जीवन की कुछ निश्चित परिस्थितियों के प्रति उनका रवैया भी एक जैसा ही होता है।[44]

2. प्रतीकों का चयन, मानकीकरण तथा प्रसार

जनपदीयता की स्थापना और उसकी रक्षा करने के लिए दूसरी पूर्वापेक्षा यह होती है कि प्रतीकों की निधि से कुछ निश्चित प्रतीकों का चयन, मानकीकरण तथा प्रसार किस तरह किया जाए। भारत में किसी जनपद की सम्भावित प्रतीक-निधि से चयन करते समय इस तथ्य का ध्यान रखना पड़ता है कि उसके वर्तमान, निकटवर्ती अतीत या फिर सांस्कृतिक इतिहास के बड़े हिस्से में प्रतीकों की यह निधि अगर अनंत नहीं तो अत्यंत विशाल है। अब लोगों में इस बात को स्वीकार करने का भाव बढ़ने लगा है कि वृहत तथा लघु या संस्कृतीकरण जैसी संकल्पनाएँ भारतीय संस्कृति और समाज के ब्योरों को विश्लेषित करने में तो मददगार रही हैं परंतु उनसे जटिलताओं और विविधताओं की मौजूदा व ऐतिहासिक प्रक्रिया आहत भी हो सकती हैं।[45] प्रतीकों की धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक या ऐतिहासिक निधि से किसी एक प्रतीक का निर्माण करना तथा उसे एक अपेक्षाकृत सुसंगत दृष्टिकोण के तौर पर प्रतिष्ठित करना एक ऐसा कर्म है जो स्वत: न होकर जटिल शक्तियों का परिणाम होता है। हमारे पास प्राक्-आधुनिक और आधुनिक काल में जनपदीय परम्पराओं के विकास की प्रक्रिया को समझने के लिए पर्याप्त सामग्री मौजूद है। इसे आधुनिक भारतीय इतिहास का एक विरोधाभास ही कहा जाएगा कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब ब्रिटिश शासन के कारण भारत में राष्ट्रीय पहचान की ज़मीन तैयार की जा रही थी तो ठीक उसी के साथ यहाँ जनपदीयता का भी उभार हो रहा था।

भारत में जनपदीयता को बढ़ावा देने में मुद्रण तकनीक की अहम भूमिका रही है। किताबों, सरकारी नियमों, पाठ्य सामग्री तथा अंग्रेज़ी व युरोपीय भाषाओं से किये जाने वाले अनुवाद के संबंध में यह फ़ैसला करना ज़रूरी होता था कि ऐसी सामग्री को क्षेत्रीय भाषाओं की कौन सी बोलियों में छापा जाए। प्रत्येक भाषा में निर्णय लेने का ढंग और उसके कर्ताधर्ता अलग अलग होते थे। उत्तर भारतीय भाषाओं— ख़ास तौर पर बांग्ला, हिंदी तथा उर्दू के मामले में लॉर्ड वेलेज़ली द्वारा स्थापित फ़ोर्ट विलियम कॉलेज़ की भूमिका सबसे अहम थी। यहाँ जॉन गिलक्रिस्ट ने हिंदुस्तानी गद्य और विलियम कैरी ने बंगाल के धार्मिक साहित्य तथा अन्य पुस्तकों के चयन और प्रकाशन की जिम्मेदारी निभायी। इन प्रयासों के परिणामस्वरूप क्षेत्रीय भाषाओं के मानकीकरण की राह प्रशस्त हुई और क्षेत्र के शिक्षित लोगों को समान पाठ सामग्री मुहैया होने

[44] इरावती कर्वे और विष्णु महादेव दांडेकर (1951), मॉनोग्राफ़ सीरीज़, खण्ड 8, पूना : 1, यह भी देखें आई. कर्वे (1953), *किनशिप ऑर्गनाइज़ेशन इन इण्डिया,* डेक्कन कॉलेज मॉनोग्राफ़ सीरीज, पूना : 1-24.

[45] मानवशास्त्रियों द्वारा भारत के ग्रेट ट्रेडिशन कहे जाने वाले इस पद की रचना तथा अर्थगत भिन्नताओं के एक बारीक़ आकलन के लिए संस्कृत के विद्वान जे.एफ़. स्टॉल का लेख देखें, जे.एफ़. स्टाल (1963), 'संस्कृत ऐंड संस्कृताइज़ेशन', *द जर्नल ऑफ़ ऐशियन स्टडीज़,* खण्ड 22 : 261-75.

लगी। यह ठीक है कि इन क्षेत्रों में और उनके आर- पार कई संपर्क भाषाएँ मौजूद थी लेकिन प्रकाशन तथा स्कूल और कॉलेजों में पाठ्य पुस्तकों के ज़रिये होने वाले भाषाओं के इस मानकीकरण ने इन भाषाओं को समाज के कुछ समूहों में अभूतपूर्व ढंग से प्रतिष्ठित कर दिया।

हालाँकि उन्नीसवीं सदी के दौरान शिक्षित भारतीयों की संख्या में कोई ख़ास वृद्धि नहीं हुई परंतु साक्षर लोगों की जितनी भी संख्या थी वह पुस्तकों के इन्हीं मानक संस्करणों का उपयोग कर रही थी। पहले प्रेजीडेंसी क्षेत्र की राजधानियों और बाद में देश के भीतरी शहरों में स्वैच्छिक संगठन क्षेत्रीय भाषाओं में प्रकाशित सामग्री के मुद्रण और वितरण का काम अपने हाथों में लेने लगे। इस संदर्भ में कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी का उल्लेख किया जा सकता है जिसने बेसिक रीडर, अंकगणित, वर्तनी और व्याकरण की हजारों पुस्तकों का वितरण किया। यह संस्था एक प्रसिद्ध साप्ताहिक अख़बार- *दिग्दर्शन* का प्रकाशन भी करती थी।[46]

इस बात का औचित्य समझा जा सकता है कि उन्नीसवीं सदी के भारत में सामाजिक बदलाव से संबंधित अध्ययनों में अंग्रेज़ी-भाषी स्कूलों और कॉलेजों को ज़्यादा महत्त्व दिया जाता है परंतु यहाँ इस तथ्य को नज़रअंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए कि क्षेत्रीय शिक्षा के प्राइमरी और माध्यमिक स्तरों का विस्तार और मानकीकरण भी इसी दौरान हुआ था। जिस समय आंग्ल-प्राच्यवादी विवाद अपने चरम पर चल रहा था, उस समय लैफ़्टिनेंट गवर्नर थॉमसन ने ऊपरी भारत में क्षेत्रीय शिक्षा के लिए सरकारी ख़ज़ाने का द्वार खोल रखा था।

उन्नीसवीं सदी के मध्य तक आते आते अंग्रेज़ी आधारित और अभिजन केंद्रित उच्च शिक्षा भारत में जनपदीयता की प्रक्रिया को प्रभावित करने लगी थी। इस समय कलकत्ता और बम्बई के पश्चिमी शिक्षा पाये कुछ लोग पश्चिमी मूल्यों, आदर्शों और युरोपीय चीज़ों का स्तुतिगान छोड़कर भारतीयता का संधान कर रहे थे। भारतीय सभ्यता में सांस्कृतिक श्रेष्ठता खोजने की यह चाह उन्हें क्षेत्रीय परम्पराओं के संगतीकरण और स्थिरीकरण की ओर ले गयी।

उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दो दशकों में बाल गंगाधर तिलक ने महाराष्ट्र में क्षेत्रीय परम्पराओं को प्रतिष्ठित करने के लिए समाज के उच्च और निम्न वर्गों को जोड़ना शुरू किया। उनकी इस मुहिम में निरक्षर जनता भी शामिल थी। हालाँकि तिलक का लक्ष्य स्पष्टतः राष्ट्रवाद से प्रेरित था पर उसकी अभिव्यक्ति जनपदीयता के रूप में हुई।

तिलक ने रूढ़िवादी ब्राह्मण अन्नासाहिब के सहयोग से 1893 में हिंदू देवता गणेश की पूजा को एक दस दिवसीय सार्वजनिक उत्सव का रूप दिया। गणेशोत्सव का प्रकट कारण निचली जातियों के उन हिंदुओं को मुहर्रम में भाग लेने से रोकना था जो पिछले काफ़ी लम्बे समय से इस आयोजन में भाग लेते आ रहे थे। गणेश पश्चिमी भारत के लोकप्रिय देवता थे। पेशवाओं के शासन काल में गणपति उत्सव एक घरेलू उत्सव की तरह प्रतिष्ठित था लेकिन बाद में वह एक नामालूम घटना बन कर रह गया। अन्नासाहिब तथा तिलक के प्रयासों से गणपति उत्सव कुछ ही वर्षों में एक विशुद्ध निजी धार्मिक आयोजन से बढ़कर पश्चिम भारत का सर्वप्रमुख और सार्वजनिक उत्सव बन गया।[47]

तिलक और उनके अनुयायियों ने 1893 में शिवाजी के सम्मान में एक और उत्सव का सूत्रपात किया। उन्नीसवीं शताब्दी के कई क्षेत्रीय

[46] एन.एल. बसाक (1959), 'ऑरिजिन ऐंड रोल ऑफ़ द कैलकटा स्कूल बुक सोसायटी', *बंगाल पास्ट ऐंड प्रज़ेंट,* जनवरी-जून.

[47] स्टेनली वोलपर्ट (1962), *तिलक ऐंड गोखले : रेवोल्यूशन ऐंड रिफ़ॉर्म इन द मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न इण्डिया*, बर्कले : 67-8; यह भी देखें, विक्टर बारनौव, 'द चेंजिंग कैरेक्टर ऑफ़ अ हिंदू फेस्टिवल', *अमेरिकन एंथ्रोपोलॅजिस्ट,* खण्ड 56 : 74-86.

और हिंदू पुनरुत्थानवादी आंदोलनों की तरह इस उत्सव के पीछे भी एक अंग्रेज़ की परोक्ष भूमिका थी। जेम्स डगलस ने बम्बई के बारे में एक गाईड लिखी थी जिसमें उन्होंने शिवाजी की समाधि की जीर्णशीर्ण हालत का ज़िक्र किया था।[48] शिवाजी उत्सव में भी महाराष्ट्र के गौरव-गान का भाव स्पष्ट था। उत्सव के संगठनकर्ताओं ने उसे ऐसा रूप देने का प्रयास किया था कि उससे पूरा समाज तादात्म्य महसूस कर सके।

उत्सव हिंदू धर्म के एक प्रतिनिधि त्योहार की तरह अपने भीतर गीत-संगीत, नृत्य, खेल-कूद, धार्मिक कथा-वाचन, मिठाई और तांबूल वितरण जैसे तत्त्व समेटे था। परंतु इसके अलावा उसमें शिवाजी के पराक्रम तथा मराठा इतिहास की उपलब्धियों का बख़ान भी किया जाता था। उत्सव के राजनीतिक और धार्मिक चरित्र को चिह्नित करने के लिए शिवाजी और उनके ब्राह्मण गुरु रामदास के आदमक़द चित्र को एक शोभा-यात्रा के रूप में पहाड़ी क़िले पर ले जाया जाता था। शोभायात्रा के दौरान लोग भजन-कीर्तन के साथ शिवाजी महाराज की जय जयकार भी करते चलते थे।[49] तिलक ने अपने अख़बार *केसरी* में यह साफ़ भी कर दिया था कि शिवाजी के महात्म्य का लक्ष्य मराठा स्व-शासन के आदर्श तथा महाराष्ट्र के गौरव को पुनर्जीवित करना था।

अलग अलग क्षेत्रों या देश के विभिन्न भागों में विद्यमान प्रतीकों की निधि से कुछ जनपदीय संस्कृतियों को चुनने और प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध अत्यंत समृद्ध काल माना जा सकता है। दक्षिण भारत के आंध्र तथा आदि द्रविड़ आंदोलनों और बनारस में नागरी लिपि के पुनरुत्थान के लिए 1890 में स्थापित की गयी नागरी प्रचारिणी सभा जैसे प्रयासों को अपने अपने क्षेत्रों में जनपदीयता के प्रसार का वाहक माना जा सकता है।

3. क्षेत्रीय अभिजनों की स्थापना

इसे एक सर्वमान्य तथ्य या सिद्धांत की तरह देखा जाता है कि ब्रिटिश शासन ने भारत की सांस्कृतिक व्यवस्था में न केवल बदलाव करने या उसकी परिभाषा को फिर नियत करने का प्रयास किया बल्कि समाज में संरचनात्मक बदलाव के लिए भी परिस्थितियाँ तैयार कीं। अभी कुछ अर्सा पहले तक भारतीय समाज के संरचनात्मक बदलावों से जुड़े बहस-मुबाहिसे और शोध का ज़ोर राष्ट्रीय अभिजनों की स्थापना तथा अखिल भारतीय शैक्षिक और प्रशासनिक व्यवस्था के अंतर्संबंधों पर हुआ करता था। लेकिन पिछले दिनों राजनीति के अध्ययन में व्यवहारवादी उपागमों के विकास, सामाजिक मानवशास्त्र द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली फ़ील्डवर्क की पद्धति के प्रसार, तथा भारत के आधुनिक इतिहासकार के क्षेत्रीय रुझान के कारण जनपदीय अभिजनों के महत्त्व की ओर ध्यान जाने लगा है।

ऐतिहासिक और समाज वैज्ञानिक साहित्य में अभिजन की अवधारणा का लम्बा इतिहास मिलता है। लेकिन अगर उसके सामान्य अर्थ की बात छोड़ दें तो अभिजन के अर्थ या उसके विषयगत आशय के बारे में बहुत क्षीण सी सहमति दिखाई देती है। जटिल समाज पदानुक्रम पर टिके होते हैं जिसमें कुछ लोग शीर्ष पर और कुछ सबसे नीचे होते हैं। एक श्रेणी या समूह के तौर पर शीर्ष पर विराजमान लोग अक्सर अन्य लोगों के मुक़ाबले नेतृत्व के कुछ निश्चित रूपों का ज़्यादा इस्तेमाल करते हैं और सम्पदा, सत्ता, प्राधिकार, उच्च जीवन शैली के प्रतीकों, शिक्षा तथा आनुष्ठानिक पवित्रता जैसी महत्त्वपूर्ण समझी जाने वाली चीज़ों पर उनकी पकड़ ज़्यादा होती है। कुछ समाजों में अभिजन सारी महत्त्वपूर्ण समझी जाने वाली चीज़ों पर एकाधिकार कर लेते हैं जबकि अन्य प्रकार के

[48] वोलपर्ट : 79.

[49] वोलपर्ट : 81.

समाजों में अभिजनों की रचना कुछ प्रतिष्ठित मानी जाने वाली गतिविधियों या प्रतीकों के इर्द-गिर्द होती दिखाई देती है । इस संदर्भ में राजनीतिक, व्यावसायिक, शैक्षिक या ऐसे ही अन्य अभिजनों का हवाला दिया जा सकता है। किसी समाज में अभिजनों की सत्ता सार्वभौम हो या वह किसी क्षेत्र विशेष तक सीमित रहे, पर एक श्रेणी के रूप में अभिजन बंद या खुली संरचना भी हो सकते हैं। अभिजनों का ऊपर से आरोपण भी किया जाता है या फिर किन्हीं उपलब्धियों के आधार पर उनका गठन भी किया जाता है। अभिजन पदानुक्रम में रखे जा सकते हैं और उनका विन्यास पिरामिड की तरह भी हो सकता है। इसी तरह हम ग्रामीण और शहरी; स्थानीय, क्षेत्रीय और राष्ट्रीय अभिजनों की बात भी कर सकते हैं। अभिजनों की पदानुक्रम पर आधारित या पिरामिडीय संरचना में अलग अलग स्तरों पर एक व्यक्ति या छोटे समूह भी अभिजन की भूमिका अख़्तियार कर सकते हैं।

भारतीय समाज और इतिहास के अध्ययन में अभिजनों का विश्लेषण और उससे जुड़ी जटिलताएँ अभी शुरुआती अवस्था में है। इसलिए जनपदीयता के विकास में अभिजनों को एक प्रकार्यात्मक पूर्वशर्त के रूप में देखना और उस पर चर्चा करना बेहद जोखिम भरा काम है। इस चर्चा में पहली सावधानी तो यही बरतनी चाहिए कि हमें अभिजनों की एकसमान श्रेणियों को ढूँढने की कोशिश छोड़ देनी चाहिए और साथ ही इस आग्रह को भी मुल्तवी कर देना चाहिए कि जनपदीयता के विकास में अभिजन एक ही प्रकार की भूमिकाएँ निभाते हैं। राजकुमार, बंगाल का भद्रलोक, महाराष्ट्र के चितपावन ब्राह्मण, तमिल ब्राह्मण, गुजरात के पाटीदार, बम्बई के पारसी, अवध के ताल्लुक़ेदार तथा मालाबार के नायर अभिजनों के विश्लेषण के लिहाज़ से अलग अलग प्रकार के समूहों से संबंध रखते हैं। बनावट के लिहाज़ से इन अभिजनों में एक यह निरंतरता तो देखी जा सकती है उनकी भर्ती या विकास मिश्रित क़िस्म के अभिजनों से हुआ है। उदाहरण के लिए अवध के तालुक़ेदार, राजा, तथा भद्रलोक जैसे समूह अपनी बनावट में मिश्रित हैं और उन्हें क्षेत्रीय समाज में नातेदारी और जातिगत संबंधों के आधार पर बने नायर और चितपावन ब्राह्मण जैसी श्रेणियों और समूहों के साथ नहीं रखा जा सकता। किसी ख़ास अभिजन समूह के उद्गम को जानना इसलिए ज़रूरी होता है क्योंकि उसके उद्गम से ही उसका आंतरिक अनुक्रम निर्धारित होता है। वस्तुतः अवध के ताल्लुक़ेदारों को ब्रिटिश शासन द्वारा 1859 के अवध भूमि बंदोबस्त के तहत गढ़ा गया था। यानी ताल्लुक़ेदार एक ऐसा व्यक्ति होता था जिसे शासन ने अपने निर्णय से ताल्लुक़ेदार की आधिकारिक श्रेणी में रख दिया गया था। ब्रिटिश सत्ता ताल्लुक़ेदारों को एक अभिजन समूह की तरह तो गढ़ना चाहती थी परंतु इसके गठन या भर्ती में जो तरीक़ा आजमाया गया उसके कारण ताल्लुक़ेदारों में किसी तरह की सामूहिक या सांस्कृतिक घनिष्ठता पैदा नहीं हो सकी। इसलिए एक अभिजन समूह के तौर पर ताल्लुक़ेदार सफल नहीं हो सके। (अवध के ताल्लुक़ेदारों के विषय में मेरी यह समझ थॉमस मैटकॉफ़ तथा पीटर रीव्स के कृतित्व पर आधारित है।)

अंग्रेज़ों ने राजकुमारों तथा अवध के ताल्लुक़ेदारों को ख़ास तरह की सुविधाएँ देने की गरज़ से अलग शैक्षिक संस्थाएँ स्थापित करने का प्रयत्न भी किया ताकि वे अभिजनों की तरह व्यवहार कर सकें। भारत में ईटन जैसी शैक्षिक संस्था खोलने का प्रस्ताव सबसे पहले भरतपुर के ब्रिटिश रेज़िडेंट कर्नल वाल्टर ने रखा था जो उसे एक ऐसी संस्था की तरह देखते थे जिसमें राजपूताना के शाही परिवारों, राजकुमारों तथा ठाकुरों के बेटों को जेंटलमैन बनने की शिक्षा दी जा सके।[50] वाल्टर का मानना था कि राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा के लिए ऐसी संस्था का गठन करके और उनमें किताबी कीड़ों के बजाय दम-खम और कूद-फाँद वाले खेलों में रुचि रखने

[50]. हर्बर्ट शेरिंग (1897), *द मेयो कॉलेज : द ईटन ऑफ़ इण्डिया,* कलकत्ता, खण्ड 1 : 1.

वाले अंग्रेज़ जैंटलमैनों की नियुक्ति करने पर ही देशी रजवाड़ों के राजकुमारों से अपनी जनता में शांति, समृद्धि और प्रगति का वाहक और ब्रिटिश प्राधिकार तथा सत्ता का प्रबल समर्थक बनने की उम्मीद की जा सकती है।[51]

भारत के वायसरॉय लार्ड लिटन ने 1879 में यह प्रस्ताव रखा था कि प्रस्तावित स्टेट्यूटरी सिविल सेवा में सामाजिक रूप से प्रतिष्ठित परिवारों के सदस्यों को ही लिया जाना चाहिए.... सिविल सेवा की इस देशज शाखा में ख़ानदानी गुणों, सत्ता की आदतों को जल्दी ज़ज्ब कर लेने में निपुण तथा अपने देशवासियों की बड़ी संख्या पर रौब क़ायम करने में सक्षम लोगों का ही चयन किया जाना चाहिए[52] लेकिन स्टेट्यूटरी सिविल सेवा कभी परवान नहीं चढ़ सकी। वह न राजकुमारों को आकर्षित कर सकी न ही शिक्षित वर्गों को। राजस्थान जैसे क्षेत्रों में आर्थिक-राजनीतिक सत्ता और अपने अपने राज्यों में विशिष्ट जीवन-शैली व प्रतीक रचने के लिहाज़ से वहाँ के राजकुमार वाक़ई अभिजन की तरह व्यवहार करते थे। परंतु राजकुमारों या अवध के ताल्लुक़ेदारों को ब्रिटिश शासन के प्रति कम वफ़ादार अभिजनों के मुक़ाबले खड़ा करने तथा उन्हें बृहत्तर समाज में एक शाही अभिजन के तौर पर स्थापित करने की ब्रिटिश कोशिशें सफल नहीं हो पायी। उन्नीसवीं सदी के अंग्रेज़ अहलकारों और बीसवीं सदी के विद्वानों ने यह पाया कि अंग्रेज़ों द्वारा लागू की गयी शिक्षा व्यवस्था के कारण एक नया अभिजन समूह अस्तिव में आने लगा है। पश्चिमी शिक्षा में दीक्षित इस समूह की उपस्थिति बंगाल में साफ़ देखी जा सकती थी। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध का ब्रिटिश अधिकारी तंत्र समाज की इस श्रेणी को सत्ता के नज़दीक नहीं आने देना चाहता था। वह उसे इन भूमिकाओं तथा अभिजन प्रतीकों से वंचित रखना चाहता था जबकि भारत में विश्वविद्यालयी शिक्षा ने उसे ठीक ऐसी ही भूमिका के लिए तैयार किया था। इस शिक्षित समूह के सदस्यों ने शुरुआत में बम्बई और बंगाल तथा बाद में अन्य क्षेत्रों में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन तथा सांस्कृतिक पहचान के क्षेत्रीय आंदोलनों का नेतृत्व किया और बीसवीं सदी में जैसे-जैसे ब्रिटिश नीतियाँ बदलती रही वैसे वैसे यह समूह सिविल सेवा और सेना के पदों पर भी आरूढ़ होने लगा।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में उभरे इन विशिष्ट क्षेत्रीय अभिजनों के बीच से बाद में कई क्षेत्रों में ऐसे प्रति-समूहों का उभार भी हुआ जो राष्ट्रवादी व सिविल सेवा से जुड़े उदीयमान अभिजनों को स्वीकार नहीं करते थे। महाराष्ट्र में ब्राह्मण विरोधी तथा तमिलनाडु के गैर-ब्राह्मण आंदोलनों को ऐसे ही प्रति समूहों की श्रेणी में रखा जा सकता है। जनपदीयता के संदर्भ में अभिजनों और प्रति-अभिजनों की स्थिति 1920 के दशक में तब और जटिल हो गयी जब गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस एक जन-संगठन में बदलने लगी। इस दौरान जन-संगठन का विकास करने और जनता के बीच अपना प्रभाव पैदा करने के लिए एक नये ढँग के नेतृत्व को प्रश्रय दिया गया ताकि वह कांग्रेस के आंदोलन से स्थानीय और क्षेत्रीय समर्थकों को जोड़ सके। इस संबंध में कांग्रेस द्वारा जारी की जाने वाली अपीलें क्षेत्रीय भाषा और संस्कृति से मण्डित होती थी। इस तरह राष्ट्रवाद पर जनपदीय रंगत चढ़ने लगी थी। हालाँकि गाँधी और नेहरू राष्ट्रीय आदर्श के दो अलग अलग रूपों का प्रतिनिधत्व करते थे किंतु आंदोलन की निचली पाँत जनपदीय आधार पर गठित की जाती रही जिससे क्षेत्रीय शैलियों को बढ़ावा मिलता रहा। स्वतंत्र भारत में नेतृत्व का यह रूप और उसकी शैलियाँ अधिकाधिक प्रमुख होती गयी हैं।

---

51. वही : 2.

52. एस. गोपाल (1965), *ब्रिटिश पॉलिसी इन इण्डिया : 1858-1905*, केम्ब्रिज :117.

जनपदीय अभिजनों के उदय तथा उनके द्वारा प्रतीकों और मूल्यों की क्षेत्रीय निधि के तकनीकी, शैक्षिक, नागर और राजनीतिक भूमिकाओं तथा इतिहास व नीतिगत दुघर्टनाओं से संबंधित कुछ निश्चित प्रतीकों को चुनने और उनका मानकीकरण करने की प्रक्रिया का आपसी संबंध काफ़ी जटिल है। सही बात तो यह है कि विभिन्न क्षेत्रों की प्रतीक-निधियों, जनपदीय संस्कृतियों की प्रक्रिया और मानकीकरण तथा राष्ट्रीय और जनपदीय स्तरों पर उदीयमान अभिजनों की प्रकृति को हमने एक तरह से बस समझना ही शुरू किया है।

जनपदीय पहचान व जनपदीयता को संतुलित करने की प्रक्रिया

मौजूदा अकादमिक शैलियों का एक विद्रूप यह है कि अन्य विद्वानों की बनिस्बत ख़ुद इतिहासकार ही इतिहास को वर्तमान से अतीत की ओर पढ़ने में प्रवृत्त दिखाई देते हैं। जनपदीयता के प्रति उनके बढ़ते सरोकार के कारण उनमें क्षेत्रीय अध्ययन की प्रवृत्ति हावी होती गयी है। कई बार भारतीय इतिहासकार मानवशास्त्रियों के अभिशाप यानी सिर्फ़ अपने लोगों का अध्ययन करते रहने की भावना से ग्रस्त दिखाई पड़ते हैं। सिर्फ़ भारत में ही नहीं बल्कि दुनिया के ज़्यादातर हिस्सों में मानवशास्त्रियों में अपने अध्ययन क्षेत्र के आदिवासी समुदाय या गाँव को ही प्रमुख जनपद समझ लेने तथा उस क्षेत्र विशेष में किसी निश्चित समय पर घटने वाली घटनाओं और प्रक्रियाओं को आधुनिक इतिहास का पर्याय मान लेने की भावना मजबूत हुई है। इस प्रवृत्ति के पीछे बेशक एक ठोस आधार मौजूद है। भारतीय समाज और इतिहास के अध्ययन में जनपदों और जनपदीयता का महत्त्व असंदिग्ध है। यह सरोकार एक मायने में पिछले इतिहासकारों के भारत-आंग्ल इतिहास लेखन के मनोग्रह को दुरुस्त करता है। परंतु अगर अपने प्रयासों में हम उन्नीसवीं सदी में उभरी जनपदीय पहचान और जनपदीयता की प्रक्रिया की ख़ामियों को ठीक नहीं करते तो हम भारतीय-आंग्ल ऐतिहासिक शोध की तरह ही जड़वत् होकर रह जाएँगे। राष्ट्रीय आंदोलन और भारतीय राष्ट्र राज्य के उभार की प्रक्रिया में पारम्परिक भारतीय प्रतीकों (जिन्हें निश्चय ही हिंदू प्रतीक कहा जा सकता है) का मानकीकरण हुआ है। इसके साथ अमूर्त स्तर पर एक विशिष्ट विश्व-दृष्टि को चिह्नित किया जा सकता है जिसे निस्संदेह भारतीय दृष्टि कहा जा सकता है। यह एक ऐसा लहज़ा या शैली है जिसकी हम भारतीयता के रूप में निशानदेही करते हैं। संस्कृत, फ़ारसी, उर्दू तथा अंग्रेज़ी जैसी भाषाएँ हैं जो समूचे भारत में इस्तेमाल की जाती रही हैं। भारतीय इतिहास की अधिकांश कालावधियों में ब्राह्मण, फ़ारस की दरबारी तथा आधुनिक या वैश्विक जीवन-शैलियों को क्षेत्रीय जीवन-शैलियों से ज़्यादा प्रतिष्ठा मिलती रही है। मुग़ल साम्राज्य की शुरुआत से ही राष्ट्रीय प्रशासनिक सेवा के विभिन्न रूप मौजूद रहे हैं। यहाँ यह कहना भी बेजा नहीं होगा कि भारत में उपमहाद्वीपीय स्तर पर मदरसे, पाठशाला तथा विश्वविद्यालय जैसी तमाम शैक्षिक संस्थाएँ जब-तब सक्रिय रही हैं। इस बात की झलक उच्च शिक्षा के क्षेत्रीयकरण की मौजूदा प्रक्रिया के साथ आइआइटी जैसी संस्थाओं की स्थापना और दिल्ली विश्वविद्यालय जैसे संस्थाओं को राष्ट्रीय संस्थाओं की हैसियत देने जैसे प्रयासों में देखी जा सकती है। आज़ादी के बाद से बहुत सारे भारतीय उच्च शिक्षा व तकनीकी प्रशिक्षण के लिए विदेश जाते रहे हैं जहाँ एक समय के बाद उनकी बंगाली या तमिल पहचान पर भारतीय पहचान हावी हो जाती है। भारत में फ़िल्मों और फ़िल्मी पत्रिकाओं तथा इलस्ट्रेटिड वीकली ऑफ़ इण्डिया जैसे प्रकाशनों के ज़रिये एक मध्यवर्गीय बाज़ारू संस्कृति उभर रही है। इस मामले में यह जिज्ञासा सहज लगती है कि फ़िल्मों का शहरी मध्यवर्ग की महिलाओं की साड़ी पहनने की शैली, घर की साज-सज्जा और बाज़ारू पत्रिकाओं पर क्या असर रहा है या फिर यह जानना भी दिलचस्प हो सकता है कि क्या इनके प्रभावस्वरूप कोई शहरी आधुनिक जीवन शैली

भी पनप रही है। हम अक्सर यह बात भुला देते हैं कि पश्चिम के इतिहास में जनपदीय संस्कृतियाँ और शैलियाँ किस तेज़ी से ग़ायब हो गयी थी और उनकी जगह राष्ट्रीय संस्कृतियों ने कैसे अपनी धाक जमा ली थी। क्षेत्रीय आधार पर लड़े गये गृहयुद्ध के सौ साल बीतने और अमेरिकी इतिहास में प्रांतीयता को एक अहम घटक स्वीकार किये जाने के बाद आज अमेरिकी जीवनशैली के ज़्यादातर पर्यवेक्षक यह स्वीकार करते हैं कि अमेरिकी समाज और संस्कृति के हर स्तर पर एकरूपता हावी हो चुकी है। संस्कृतियाँ तथा जनपदीय/राष्ट्रीय शैलियाँ कई बार बहुत तज़ी से बदल सकती हैं। मसलन, संभव है कि जिसे हम आयरी संस्कृति का प्रतिनिधि रूप समझते हैं उसकी पैदाइश उन्नीसवीं सदी के बीच खड़े किसी छोटे से वक़्फ़े में हुई हो। इसी तरह एक औसत स्कॉट पुरुष की कंजूस और रुखे व्यक्ति की छवि वास्तव में सत्रहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में उभरे प्रेसबिटेरियनवाद से निकली प्रतीत होती है।

इस समूचे पर्चे में मैं जो विचार रखने का प्रयास कर रहा हूँ वह यह है कि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के लिहाज़ से जनपद कोई स्थिर और दीर्घजीवी चीज़ नहीं होते। उन्हें परम सत्य नहीं माना जा सकता और उन्हें वस्तुनिष्ठ कसौटी पर कसना अगर असम्भव नहीं तो मुश्किल ज़रूर होता है। ऐसी किसी जनपदीय इकाई की सीमाएँ इस बात से तय होती हैं कि पर्यवेक्षक उसे किस बिंदु और मंतव्य से देख रहा है। बहुत से उद्देश्यों के लिए ऐसे जनपद को अध्ययन की ज़रूरत के मुताबिक़ परिभाषित किया जा सकता है और उसे पूरी तरह एक तार्किक इकाई की तरह भी देखा जा सकता है जबकि अगर हमारा उद्देश्य कुछ और है तो अपेक्षाकृत किसी गाँव, शहर या फिर सभ्यता को ही अध्ययन की इकाई बनाया जा सकता है।

हाल के वर्षों में भारत और भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने वाले समाज वैज्ञानिकों में जनपद और जनपदीयता को लेकर ख़ास तरह दिलचस्पी बढ़ी है। लेकिन इसके कारण इस बात को दरग़ुजर नहीं करना चाहिए कि जनपदीयता की परिघटना को हम जैसे चाहें परिभाषित कर लें किंतु अंतत उसका अस्तित्व समय से बँधा होता है। हमें इस जोखिम को लेकर भी सावधान रहना चाहिए कि कहीं हम समाज में किसी व्यक्ति या समूह के आकस्मिक चयन को उसके सीमित अर्थ से उठाकर परम सत्य की तरह प्रतिष्ठित न कर दें।